

# समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2022 ♦ नई दिल्ली



प्रेस आधुनिक जीवन का एक  
बेहद जरूरी अंग है,  
खासकर लोकतंत्र में।  
प्रेस के पास  
अपार शक्ति  
और जिम्मेदारी  
होती है। प्रेम को  
सम्मान मिलना चाहिए  
और सहयोग भी  
—पंडित जवाहरलाल नेहरू



गणेश शंकर विद्यार्थी

( जन्म : 26 अक्टूबर, 1890-  
शहादत : 25 मार्च, 1931 )

---

# नाहि तो जन्म नसाई

कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश के जिला बरेली के एक स्कूल के बारे में ये खबर पढ़ने को मिली कि एक अध्यापक को केवल इस कारण स्कूल से निकाला और उसके प्राचार्य को निलंबित कर दिया गया क्योंकि उन्होंने बच्चों की प्रार्थना के लिए सप्ताह में किसी एक दिन इकबाल की कविता 'एक बच्चे की दुआ' का चयन किया था जिसमें अल्लाह और खुदा जैसे शब्द थे। इल्जाम ये लगाया गया कि ये हिंदू छात्रों को मुसलमान बनाने की साजिश है। एक ऐसी ही घटना इसी राज्य के पीलीभीत जिले की है जहां एक-डेढ़ बरस पहले एक मुस्लिम अध्यापक को प्रार्थना के लिए इसी कविता पाठ के कारण जिला प्रशासन की प्रताड़ना का निशाना बनना पड़ा था। इस तरह की घटनाएं जब सामने आती हैं तो स्वाभाविक रूप से ये प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में हमारे समाज में सांप्रदायिकता का जहर इस हद तक फैल गया है कि छात्रों का किसी ऐसी कविता का पढ़ना भी आपत्तिजनक हो जिसमें ईश्वर और भगवान के ऊर्दू पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ हो और उसे धर्म परिवर्तन की बड़ी साजिश का हिस्सा समझा जाए। इस प्रश्न का जवाब तो इसी पाठशाला की एक बच्ची ने अपने मासूम स्वर में ये कहते हुए दे दिया कि प्रभु और अल्लाह तो एक ही हैं, इनमें अंतर क्या है। ऐसा नहीं है कि हम बड़े ये बात न जानते हों मगर होता ये है कि अपने निहित और राजनीतिक स्वार्थों के कारण हम इतने गिर जाते हैं कि कत्ल की किसी धिनौनी वारदात को भी हिंदू-मुस्लिम की ऐनक से देखने लगते हैं और लोकसभा जैसे गणमान्य सदन की एक माननीय सदस्या खुलेआम लोगों को सब्जी काटने की छुरी को तेज करने की सलाह देने लगती हैं और देश की आंतरिक सुरक्षा और शांति और कानून व्यवस्था के लिए जिम्मेदार मंत्रालय के प्रमुख की तरफ से गोधरा अग्निकांड के बाद गुजरात में भड़के दंगों के हवाले से दंगाइयों को सबक सिखाकर राज्य में स्थाई शांति कायम करने का दावा किया जाता है। विडंबना यह है कि ऐसी बातें वो लोग करते हैं जिन्हें अपने देशप्रेम में गर्व है। मगर घृणा और हिंसा का इस ढंग से आह्वान करने पर देश का क्या होगा इसकी न तो उन्हें चिंता है और न कोई सरोकार। यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि किसी एक समुदाय के विरुद्ध नफरत और हिंसा के निरंतर प्रचार के द्वारा समाज को विभाजित करने की इन कोशिशों से कुछ चुनावी फायदे हों तो हों मगर देश के व्यापक हितों के लिए ये कितनी घातक हो सकती हैं इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्तमान परिस्थितियों में इसकी पूरी संभावना है कि अगले कुछ महीनों में ध्रुवीकरण की ये कोशिशें और भी तेज हों क्योंकि कुछ राज्यों में विधानसभा चुनाव होने वाले हैं और 2024 भी दूर नहीं है जब देश की जनता अगली लोकसभा के गठन के लिए अपने मताधिकारों का प्रयोग करेगी। हमारा दुर्भाग्य यही है कि हम बेरोजगारी, गरीबी, कुपोषण और सेहत सेवाओं के अभाव जैसी समस्याओं के बोझ तले दबे होने के बावजूद अपना लक्ष्य और प्राथमिकताएं निर्धारित नहीं कर पाते और अब तो हम यह भी भूलने लगे हैं कि हमारे स्वतंत्रता संग्राम के आदर्श क्या थे और हमारे संविधान निर्माताओं ने देश के भविष्य के लिए क्या सपना देखा था और क्या उद्देश्य निर्धारित किए थे। क्या सामाजिक और आर्थिक न्याय, भाईचारा और सामाजिक सद्भाव के बगैर ये सपना साकार हो सकता है?

---

## 2 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2022



सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

(जनकवि)

## देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता

यदि तुम्हारे घर के  
एक कमरे में आग लगी हो  
तो क्या तुम  
दूसरे कमरे में सो सकते हो ?  
यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में  
लाशें सड़ रहीं हों  
तो क्या तुम  
दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो ?  
यदि हाँ  
तो मुझे तुम से  
कुछ नहीं कहना है।

देश कागज पर बना  
नक्शा नहीं होता  
कि एक हिस्से के फट जाने पर  
बाकी हिस्से उसी तरह साबुत बने रहें  
और नदियाँ, पर्वत, शहर, गाँव  
वैसे ही अपनी-अपनी जगह दिखें  
अनमने रहें।  
यदि तुम यह नहीं मानते  
तो मुझे तुम्हारे साथ  
नहीं रहना है।

इस दुनिया में आदमी की जान से बड़ा  
कुछ भी नहीं है  
न ईश्वर  
न ज्ञान  
न चुनाव  
कागज पर लिखी कोई भी इबारत  
फाड़ी जा सकती है  
और जमीन की सात परतों के भीतर  
गाड़ी जा सकती है।

जो विवेक  
खड़ा हो लाशों को टेक  
वह अंधा है  
जो शासन  
चल रहा हो बंदूक की नली से  
हत्यारों का धंधा है  
यदि तुम यह नहीं मानते  
तो मुझे  
अब एक क्षण भी  
तुम्हें नहीं सहना है।

याद रखो  
एक बच्चे की हत्या  
एक औरत की मौत  
एक आदमी का  
गोलियों से चिथड़ा तन  
किसी शासन का ही नहीं  
सम्पूर्ण राष्ट्र का है पतन।

ऐसा खून बहकर  
धरती में जज्ब नहीं होता  
आकाश में फहराते झंडों को  
काला करता है।  
जिस धरती पर  
फौजी बूटों के निशान हों  
और उन पर  
लाशें गिर रही हों  
वह धरती  
यदि तुम्हारे खून में  
आग बन कर नहीं दौड़ती  
तो समझ लो  
तुम बंजर हो गये हो-  
तुम्हें यहां सांस लेने तक का नहीं है अधिकार  
तुम्हारे लिए नहीं रहा अब यह संसार।

आखिरी बात  
बिल्कुल साफ  
किसी हत्यारे को  
कभी मत करो माफ  
चाहे हो वह तुम्हारा यार  
धर्म का ठेकेदार,  
चाहे लोकतंत्र का  
स्वनामधन्य पहरेदार।

( जन्म : 26 अक्टूबर, 1890, शहादत : 25 मार्च, 1931 )

# दंगे की भेंट चढ़ने वाले पहले पत्रकार थे गणेश शंकर विद्यार्थी गोदी मीडिया के दौर में आइना दिखाती गणेश शंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता

एक ऐसे समय में जब आज की पत्रकारिता और मुख्यधारा की पूरी मीडिया सत्ता के तलवे चाटने और गुणगान में मशगूल है और जब पूरा देश भयावह साम्प्रदायिक उन्माद की चपेट में है, तब जनपक्षधर पत्रकारिता के शीर्ष पुरुष और साम्प्रदायिक दंगे से जूझते हुए शहीद होने वाले गणेश शंकर विद्यार्थी को जानना बेहद ज़रूरी है। आज की पत्रकारिता को इस आइने में देखना और उससे कार्यभार निकालना भी ज़रूरी है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के संघर्षशील पत्रकारों में गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम अग्रणी है। आजादी की क्रांतिकारी धारा के पैरोकार विद्यार्थी जी अपने धारदार लेखन से तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता से टकराते रहे और कई बार जेल तक भी गये। उनका अखबार 'प्रताप' हिंदी क्षेत्र के किसानों व मजदूरों के अनवरत संघर्ष का वाहक बन गया था। वे आजीवन धार्मिक कट्टरता और उन्माद के खिलाफ आवाज उठाते रहे। यही धार्मिक उन्माद उनकी जिंदगी लील गया।

26 अक्टूबर 1890 को इलाहाबाद में जन्में गणेश शंकर विद्यार्थी की कर्मस्थली कानपुर बनी। 'प्रताप' व 'प्रभा' जैसी पत्रिकाएं आजादी की मुखर प्रवक्ता थीं। 'प्रताप' भारत की आजादी की लड़ाई का मुख-पत्र साबित हुआ। भगत सिंह को 'प्रताप' से विद्यार्थी जी ने ही जोड़ा था। विद्यार्थी जी ने राम प्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा प्रताप में छपी, क्रान्तिकारियों के विचार व लेख प्रताप में निरन्तर छपते रहते। उनका प्रेस क्रान्तिकारियों के छिपने की जगह था।

**स्वराज से प्रताप तक की यात्रा**

विद्यार्थी जी का इलाहाबाद में पत्रकारिता व गंभीर लेखन

का सफ़र प्रारंभ हुआ। 'स्वराज' अखबार से उर्दू में लिखना शुरू किया। जबकि पंडित सुंदरलाल के सानिध्य में वह हिंदी की ओर आकृष्ट हुए।

एक लेखक और पत्रकार के रूप में उनकी वास्तविक शुरुआत 2 नवंबर 1911 से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका से हुई। द्विवेदी जी और 'सरस्वती' के सानिध्य में उन्हें अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्कारों को विकसित करने का अवसर मिला तो मदन मोहन मालवीय के अखबार 'अभ्युदय' के जरिये अपने राजनीतिक विचारों को आकार दिया।

लेकिन 'अभ्युदय' में काम करते हुए साल भर भी नहीं हुआ था कि 23 सितंबर 1913 को अचानक उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हें कानपुर जाना पड़ा। यहीं पर अन्य मित्रों के साथ 'प्रताप' की योजना बनी और 9 नवंबर 1913 को 'प्रताप' की नींव पड़ी। यह काम शिव नारायण मिश्र, गणेश शंकर विद्यार्थी, नारायण प्रसाद अरोड़ा और कोरोनेशन प्रेस के मालिक यशोदा नंदन ने मिलकर किया था।

**क्रान्तिकारी विचारों की मुखर आवाज़**

विद्यार्थी जी ने लेखन को सामाजिक कर्म बनाया, उसे

संवाद का माध्यम बनाया। पत्रकारिता के जरिये ऐसा सृजन किया कि पत्र-पत्रिकाएं आजादी के आंदोलन में कारगर हथियार बनीं।

विद्यार्थी जी पत्रकारिता के निशाने पर ब्रिटिश शासन की गुलामी थी तो देसी सामंतों व पूँजीपातियों के जुल्म भी थे। वे धार्मिक कट्टरता व साम्प्रदायिकता के खिलाफ भी संघर्षरत रहा। उनका दफ्तर क्रांतिकारियों की शरणस्थली था तो युवाओं के लिए पत्रकारिता का प्रशिक्षण केंद्र भी। सत्याग्रह, जुलूस और सभाओं से लेकर दलीय चुनावी राजनीति में नेतृत्व संभाला, पर अपनी पत्रकारिता को दलीय राजनीति का मोहरा कभी नहीं बनने दिया।

क्रांतिकारी एवं मुखर राजनीतिक विचारों को लेकर 'प्रताप' हिन्दी प्रदेश का ही नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत का प्रमुख अखबार बना। उसका राजनीतिक स्वर क्रांतिकारी था, लेकिन इसके साथ कांग्रेस की नीतियों का भी पक्षधर था। अपनी इस पत्रकारिता के कारण उस पर छापे, जमानत, जब्ती, चेतावनी, धमकी एवं संचालकों को कारावास तक झेलना पड़ा। इन परिस्थितियों में भी विद्यार्थी जी आजादी की मशाल लिए पत्रकारिता के युद्ध क्षेत्र में डटे रहे।

### निर्भीक पत्रकारिता के कारण जेल यात्राएं

वे कलम के सच्चे सिपाही और पत्रकारिता के आदर्श पुरुष थे। सरकार और जमींदारों के दमन के खिलाफ विद्यार्थी जी की लेखनी आग उगल रही थी। निर्भीक पत्रकारिता का ही प्रमाण था कि विद्यार्थी जी ने अपने जीवन में पांच जेल यात्राएं कीं, लेकिन सच का दामन नहीं छोड़ा। उनकी तीन जेल यात्राएं 'प्रताप' अखबार की पत्रकारिता और दो राजनीतिक भाषणों के कारण हुईं।

### मजदूरों-किसानों के संघर्ष के वाहक

आज के दौर से भिन्न उनकी पत्रकारिता मेहनतकश मजदूरों-किसानों की आवाज बन गई थी। वे खुद भी आन्दोलनों के प्रत्यक्ष भागीदार रहे।

उन्होंने रायबरेली गोलीकांड का आँखों देखा विवरण धारदार तरीके से दिया। किसानों पर हुए अत्याचार की तुलना उन्होंने अमृतसर के जलियांवाला बाग हत्याकांड से की। दैनिक 'प्रताप' के 13 जनवरी 1921 के अंक में 'डायरशाही और ओडायरशाही' नामक अग्रलेख लिखा। 'प्रताप' का किसानों का साथ देने से जहाँ सरकार की कुदृष्टि उन पर पड़ी, वहीं स्थानीय ताल्लुकेदार भी उनसे खफा हो गए। किसानों का दमन करने वाले वीरपाल सिंह ने दैनिक 'प्रताप' पर मानहानि का मुकदमा कर दिया। उनकी पहली जेल-यात्रा का कारण इसी पत्रकारिता की देन थी।

कानपुर के मजदूर आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उनकी

प्रमुख भूमिका थी। उन्होंने सन 1917-18 में 'होम रूल' आन्दोलन में अग्रणी भूमिका निभाई और कानपुर में कपड़ा मिल के 25 हजार मजदूरों की पहली हड़ताल का नेतृत्व किया। 'प्रताप' हिन्दी प्रदेश के किसानों व मजदूरों के अनवरत संघर्ष का वाहक बन गया था।

### साम्प्रदायिकता व धर्मान्धता के मुखर विरोधी

वे साम्प्रदायिकता के खिलाफ सतत संघर्षरत रहे। भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव की शहादत के बाद जनभवनाओं को मोड़ने के लिए अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक ताकतों से मिलकर कानपुर को हिन्दू-मुस्लिम दंगे की आग में झोंक दिया।

इसी दंगे में निसहायों को बचाते हुए 25 मार्च 1931 में वे शहीद हो गये। देश और समाज के प्रति यह उनकी निर्भीक प्रतिबद्धता ही थी, जिसके चलते वह दिन-रात घूमकर कानपुर में भड़के साम्प्रदायिक दंगे की आग को बुझाने की कोशिश करते साम्प्रदायिक उन्मादी भीड़ के हाथों मारे गए। दंगों की भेंट चढ़ने वाले वह संभवतः पहले पत्रकार थे।

### धर्मान्धता पर विद्यार्थी जी के विचार

“कुछ लोग हिंदू राष्ट्र-हिंदू राष्ट्र चिन्ताते हैं। हमें क्षमा किया जाए यदि हम कहें नहीं। हम इस बात पर जोर दें कि वे एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं और उन्होंने अभी तक राष्ट्र शब्द का अर्थ ही नहीं समझा। हम भविष्य वक्ता नहीं पर अवस्था हमसे कहती है कि अब संसार में हिंदू राष्ट्र नहीं हो सकता।”

“इस समय, देश में धर्म की धूम है। उत्पात किये जाते हैं, तो धर्म और ईमान के नाम पर और जिद की जाती है, तो धर्म और ईमान के नाम पर। रमुआ पासी और बुद्धि मियाँ धर्म और ईमान को जानें, या न जानें, परंतु उसके नाम पर उबल पड़ते हैं और जान लेने और जान देने के लिए तैयार हो जाते हैं। देश के सभी शहरों का यही हाल है। उबल पड़ने वाले साधरण आदमी का इसमें केवल इतना ही दोष है कि वह कुछ भी नहीं समझता-बुझता और दूसरे लोग उसे जिधर जोत देते हैं उधर जुत जाता है।”

“अजाँ देने, शंख बजाने, नाक दाबने और नमाज पढ़ने का नाम धर्म नहीं है। शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट, चिन्ह हैं। दो घंटे तक बैठकर पूजा कीजिए और पंच-वक्त नमाज भी अदा कीजिए, परंतु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्त के दे चुकने के पश्चात, यदि आप अपने को दिन-भर बेईमानी करने और दूसरों को तक्रलीफ पहुँचाने के लिए आजाद समझते हैं तो, इस धर्म को, अब आगे आने वाला समय कदापि नहीं टिकने देगा।”

साभार : mehatkash.in

# 69 साल पहले गांधी ने जिसे अनहोनी कहा था, वह आज घटित हो रही है

अपूर्वानंद

*गांधी ने लिखा था कि कभी अगर देश की 'विशुद्ध संस्कृति' को हासिल करने का प्रयास हुआ तो उसके लिए इतिहास फिर से लिखना होगा। आज ऐसा हो रहा है। यह साबित करने के लिए कि यह देश सिर्फ हिंदुओं का है, हम अपना इतिहास मिटाकर नया ही इतिहास लिखने की कोशिश कर रहे हैं।*

एक और 75वीं सालगिरह आने वाली है। 2 अक्टूबर, 1947 के 75 साल हो रहे हैं। 2 अक्टूबर गांधी का जन्मदिन है। क्यों 1947 का 2 अक्टूबर महत्वपूर्ण है? क्योंकि अब हमें मालूम है कि यह गांधी के जीवनकाल का आखिरी जन्मदिन होने वाला था। उन्होंने 78 साल पूरे कर लिए थे।

जिस देश में उस वक्त एक औसत भारतीय की उम्र 32 साल की थी, 78 साल जीना कुछ खास तो था ही। गांधी को देखते यह अनुमान करना ग़लत न था कि वे और कई साल जी सकते हैं। लेकिन ऐसा होना न था। जल्दी ही, सिर्फ 3 महीने बाद, गांधी की हत्या कर दी जाने वाली थी। जैसे गांधी के स्वाभाविक तौर पर और कई साल जीने का अनुमान ग़लत न था, वैसे ही उनकी हत्या हो सकती है, यह आशंका भी उनके जीवन के आखिरी सालों में घनी होती गई थी।

यह जन्मदिन खास था। गांधी ने अपना जीवन जिस उद्देश्य को समर्पित किया था, वह पूरा हो गया था। जिन अंग्रेजों ने 'भारत छोड़ो' के जवाब में उन्हें और उनके मित्रों को जेल में डाल दिया था, आखिरकार वे भारत छोड़कर जाने को बाध्य हो गए थे। अपने जीवनकाल में ही अपना उद्देश्य पूर्ण होते देखने से अधिक खुशी क्या हो सकती है? इसलिए 15 अगस्त के ठीक बाद आने वाले इस जन्मदिन पर अगर उल्लास नहीं तो संतोष का अनुभव तो गांधी कर ही सकते थे।

मैंने लेकिन बात पूरी तरह ठीक नहीं की। अंग्रेजों से

भारत को मुक्त करना उनके बृहद कार्यक्रम का एक हिस्सा भर था। इससे अधिक नहीं तो कम महत्त्व भी नहीं था उनके लिए भारत को जाति से मुक्त करना। अंग्रेजी हुकूमत को तो उखाड़ फेंकना फिर भी आसान था, जाति की जकड़ से देशवासियों को मुक्त करने का काम कहीं मुश्किल था।

और तीसरा, बल्कि पहला उद्देश्य उनका हिंदुओं और मुसलमानों को परस्पर विद्वेषपूर्ण प्रतियोगिता की हिंसा से आज़ाद करना था। गांधी की ज़िंदगी के ये तीन बड़े मकसद थे। इन सबके लिए भारतीयों में सत्य के प्रति आग्रह हो और उस सत्य की प्राप्ति के लिए वे अहिंसक तरीके से खुद को उत्सर्ग करने को तत्पर हों, यह भी गांधी की महत्त्वाकांक्षा थी।

हम कह सकते हैं कि आज से 75 साल पहले अपने जीवन का लेखा-जोखा लेते हुए गांधी असंतुष्ट अधिक थे। उन्होंने अपने देशवासियों से जो उम्मीदें की थीं, उनमें से कोई भी पूरी नहीं हुई थी। बल्कि इस आखिरी साबित होने वाले जन्मदिन पर उन्हें इस बात का गहरा एहसास था कि उन्होंने अपना जीवन भारतीयों को जिस अहिंसा का प्रशिक्षण देने में लगा दिया था, उस अहिंसा को ताकत हासिल होते ही उन्होंने ठुकरा दिया था।

गांधी को अपने आखिरी दिनों में यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत के लोगों ने अंग्रेजी हुकूमत के साथ संघर्ष में अहिंसा को मात्र इसलिए अपनाया था कि वे हथियारों के सहारे अंग्रेजों से मुकाबला नहीं कर सकते थे। जैसे ही अंग्रेजों के जाने का यकीन हो गया और ताकत खुद उनके

हाथ आ गई, उन्होंने साबित कर दिया कि अहिंसा उनके लिए मात्र रणनीति थी, नीति नहीं। बार-बार उन्होंने कहा और लिखा कि अहिंसा और खादी में भारत के लोगों का विश्वास सतही था और पाखंड था।

उसी प्रकार वे यह भी देख पा रहे थे कि पूना समझौते के बाद 'उच्च' जातियों से उन्होंने जिस न्यायपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा की थी, उनकी उसमें कोई रुचि न थी। क्या इस एहसास के कारण उन्होंने नेहरू और पटेल के साथ मिलकर तय किया होगा कि आज़ाद भारत का विधान उसकी अध्यक्षता में हो जिसे 'उच्च' जातियां हीन मानती रही थीं।

अगर मनु ने एक विधान किया था जिसके मुताबिक दलित, स्त्रियां और समाज जीने को बाध्य थे तो अब समाज के संगठन और उसके जीवन का दस्तूर एक ऐसे आदमी की निगरानी और सदारत में किया जाना था जिसे मनु का विधान वाणी विहीन करता था। अब राष्ट्र को उसी स्वर में बोलना था।

यह क्या इस 'उच्च' समाज को गांधी और उनके मित्रों का उत्तर था? और क्या आज वह 'उच्च' समाज इस दस्तूर या संविधान की धज्जियां उड़ाकर उनसे इसका प्रतिशोध ले रहा है?

75 साल पहले अपने जन्मदिन के आस-पास गांधी को इसका एहसास था कि वे अगला जन्मदिन शायद ही देख पाएं। आगे क्या होगा, इसके जवाब में अपने मित्रों और शुभचिंतकों को उन्होंने लिखा कि वे नहीं जानते कि अगले पल क्या होगा, वे जीवित ही रह पाएंगे या नहीं। 'मैं जैसे एक अग्निकुंड में बैठा हूं।' गांधी ने लिखा।

आज़ादी अभी सिर्फ दो महीने की हुई थी। वह शकल लेने के लिए संघर्ष कर रही थी। हम क्या करेंगे, इससे उस आज़ादी का रूप तय होना था। तय क्या करना था? हमें अपने समाज, अपने जीवन के संगठन के बारे में फ़ैसला करना था। अपना चुनाव करना था। क्या था यह चुनाव?

गांधी ने 75 साल पहले 25 अक्टूबर, 1947 को भारत के लोगों के सामने एक काल्पनिक स्थिति का वर्णन किया। वे नए विश्वविद्यालयों के बारे में एक लेख लिख रहे थे। उसमें उन्होंने उस चुनाव के बारे में पूछा :

'फ़र्ज़ कीजिए कि अनहोनी हो जाती है और (भारतीय) संघ में कोई भी मुसलमान हिफ़ाज़त और इज़्जत के साथ नहीं रह पाता है और वैसा ही हिंदुओं और सिखों

के साथ पाकिस्तान में होता है। हमारी शिक्षा तब एक ज़हरीली शकल अख़्तियार कर लेगी, फिर हम एक समय की खोज करेंगे जब हिंदुस्तान में एक ही धर्म था और हम उस विशुद्ध संस्कृति में वापस जाने की कोशिश करेंगे।

ऐसा कतई मुमकिन है कि हमें ऐसी कोई ऐतिहासिक तारीख न मिल पाए और अगर ऐसा हो भी जाए और हम वहां वापस जा सकें तो हम अपनी संस्कृति को उस विकृत समय में खींच ले जाएंगे और उचित ही पूरी दुनिया की दुत्कार हमें मिलेगी। उदाहरण के लिए अगर हम (अपने) इतिहास के मुगल काल को भूलने की बेकार कोशिश करेंगे तो हमें भूल जाना होगा कि दिल्ली में एक अजीम जामा मस्जिद थी जो दुनिया में लासानी हैसियत रखती थी या अलीगढ़ में कोई मुस्लिम यूनिवर्सिटी हुआ करती थी या दुनिया सात अचरजों में एक आगरा में कोई ताजमहल था या आगरा और दिल्ली में शानदार किले थे जिन्हें मुगल काल में तामीर किया गया था। हमें तब उस मक़सद को (विशुद्ध संस्कृति की खोज) हासिल करने के लिए इतिहास फिर से लिखना होगा।'

गांधी की हत्या के बाद उनके मूल्यों के अनुसार ही भारत ने अपना जीवन विधान, यानी अपना संविधान बनाया। लगा आज़ादी को आख़िरी अपनी शकल मिल गई लेकिन वह संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था।

75 साल पहले गांधी ने जिसे अनहोनी कहा था, वह आज घटित हो रही है। भारत में मुसलमान सुरक्षित नहीं है, उसे रोज़ाना अपमानित किया जाता है। ईसाइयों को भी। चूंकि हम ऐसा कर रहे हैं, या होने दे रहे हैं, हमारी शिक्षा भी ज़हरीली होती जा रही है।

यह साबित करने के लिए कि यह देश सिर्फ हिंदुओं का है, हम अपना इतिहास मिटाने की कोशिश कर रहे हैं और एक ऐसा इतिहास लिखने का प्रयास कर रहे हैं जिससे सिद्ध हो सके कि कभी भारत में एक विशुद्ध हिंदू संस्कृति थी।

गांधी ने उस वक्त भी कहा था और वह बात आज उससे कहीं अधिक सच है कि यह सब सत्याग्रह के नाम पर किया जा रहा है। लेकिन यह सत्याग्रह नहीं, दुराग्रह है। इस दुराग्रह के विरुद्ध खड़े होने की कीमत गांधी को चुकानी पड़ी। रामधुन गाने वाले हम लोगों में कितने आज के दुराग्रह के ख़िलाफ़ खड़े होने की हिम्मत रखते हैं?

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)

## 7 • समरथ

जुलाई-सितम्बर, 2022

( जन्म : 03 दिसम्बर, 1889, शहादत : 11 अगस्त, 1908 )

# खुदीराम बोस जिन्हें १६ साल की उम्र में चढ़ा दिया गया था फ्रांसी पर

रेहान फ़ज़ल

19 जुलाई, 1905 को जैसे ही लॉर्ड कर्जन ने बंगाल विभाजन का फ़ैसला किया, बंगाल ही नहीं पूरे भारत के लोगों के मन में अंग्रेजों के खिलाफ़ आक्रोश भड़क उठा। हर जगह विरोध मार्च, विदेशी सामान के बहिष्कार और अखबारों में अंग्रेजों के खिलाफ़ लेखों की एक तरह से बाढ़ आ गई। उसी ज़माने में स्वामी विवेकानंद के भाई भूपेंद्रनाथ दत्त ने 'जुगांतर' अखबार में एक लेख लिखा जिसे सरकार ने राजद्रोह माना।

कलकत्ता प्रेसिडेंसी के मजिस्ट्रेट डगलस किंग्सफोर्ड ने न सिर्फ़ प्रेस को ज़ब्त करने का आदेश दिया, बल्कि भूपेंद्रनाथ दत्त को ये लेख लिखने के आरोप में एक साल की कैद की सजा सुनाई। इस फ़ैसले ने अंग्रेजों के खिलाफ़ विद्रोह में आग में घी का काम किया। यही नहीं किंग्सफोर्ड ने वन्दे मातरम का नारा बुलंद करने वाले एक 15 वर्षीय छात्र को 15 बेंत लगाने की कठोर सजा सुना दी।

इसके बाद 6 दिसंबर, 1907 की रात को मिदनापुर ज़िले में नारायणगढ़ के पास बंगाल के लेफ़्टिनेंट गवर्नर एंड्रयू फ्रेज़र की ट्रेन को बम से उड़ाने की कोशिश हुई। कुछ दिनों बाद चंद्रनागौर में लेफ़्टिनेंट गवर्नर की ट्रेन को उड़ाने का एक और प्रयास किया गया जिसमें बरींद्र घोष, उलासकर दत्त और प्रफुल्ल चाकी शामिल थे।

## बचपन से ही अंग्रेजों का विरोध

1906 में मिदनापुर में एक मेले का आयोजन किया गया। सत्येंद्रनाथ बोस ने वन्दे मातरम शीर्षक से अंग्रेजी शासन का विरोध करते हुए एक पर्चा छपवाया था। खुदीराम बोस को मेले में इस पर्चे के वितरण की ज़िम्मेदारी सौंपी गई।

वहां अंग्रेजों के एक पिट्टू रामचरण सेन ने उनको शासन विरोधी पर्चा बांटते देख लिया। उसने इसकी सूचना वहां तैनात एक सिपाही को दे दी। पुलिस के एक सिपाही ने खुदीराम को पकड़ने का प्रयास किया। खुदीराम ने उस सिपाही के मुंह पर एक घूसा जड़

दिया। तभी वहां दूसरे पुलिस वाले पहुंच गए। उन सबने मिलकर खुदीराम बोस को पकड़ लिया।

लक्ष्मेंद्र चोपड़ा खुदीराम बोस की जीवनी में लिखते हैं, 'सत्येंद्रनाथ भी उसी मेले में घूम रहे थे। उन्होंने सिपाहियों को झिड़कते हुए कहा, आपने डिप्टी मजिस्ट्रेट के लड़के को क्यों पकड़ा है। ये सुनते ही सिपाहियों के होश उड़ गए। जैसे ही सिपाहियों की पकड़ थोड़ी ढीली हुई खुदीराम बोस वहां से गायब हो गए।'

'बाद में डी वेस्टन की अदालत में सत्येंद्रनाथ पर पुलिस को भ्रमित करने के आरोप में मुकदमा चला लेकिन उन पर ये आरोप सिद्ध नहीं हो पाए। वेस्टन ने अपना फ़ैसला इस तरह लिखा कि अप्रैल 1906 में सत्येंद्रनाथ को अध्यापक पद से निलंबित कर दिया गया।'

## खुदीराम और प्रफुल्ल मिशन पर मुज़फ़्फ़रपुर

8 अप्रैल, 1908 को 17 वर्षीय खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी को डगलस किंग्सफोर्ड की हत्या का दायित्व सौंपा गया। इससे पहले क्रांतिकारियों ने किंग्सफोर्ड को एक पार्सल बम भेजकर मारने की कोशिश की थी लेकिन वो पार्सल उसने नहीं खोला, पार्सल खोलते हुए एक अन्य कर्मचारी घायल हो गया।

इस बीच क्रांतिकारियों की गतिविधियों से डरकर किंग्सफोर्ड ने अपना तबादला बंगाल से दूर बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर में करवा लिया। युगांतकारी संगठन की ओर से खुदीराम को दो पिस्तौल और प्रफुल्ल चाकी को एक पिस्तौल और कारतूस देकर मुज़फ़्फ़रपुर भेजा गया। हेमचंद्र कानूनगो ने उन्हें कुछ हैंडग्रेनेड भी दिए।

लक्ष्मेंद्र चोपड़ा खुदीराम बोस की जीवनी में लिखते हैं, '18 अप्रैल, 1908 को खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी अपने मिशन पर मुज़फ़्फ़रपुर पहुंच गए। वहां दोनों वीर मोती झील क्षेत्र में एक धर्मशाला में ठहरे। दोनों युवाओं ने बारीकी से किंग्सफोर्ड के आवास



और उसकी दिनचर्या का अध्ययन करना शुरू कर दिया। तब तक पुलिस के गुप्तचरों को इस योजना की कुछ भनक लग गई थी। उन्होंने किंग्सफोर्ड को सचेत करते हुए उसकी सुरक्षा बढ़ा दी।

खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी को इस बात का अंदाजा हो गया कि किंग्सफोर्ड हर रात विक्टोरिया बग्घी में अपनी पत्नी के साथ स्टेशन क्लब आता है। दोनों ने योजना बनाई कि क्लब से वापसी के समय किंग्सफोर्ड की बग्घी पर बम फेंककर उनकी हत्या कर दी जाए।

### रात साढ़े आठ बजे बग्घी में बम फेंका

उस जमाने में मुजफ्फरपुर के स्टेशन क्लब में शाम को बहुत रौनक हुआ करती थी। वहां हर शाम ब्रिटिश अधिकारी और ऊंचे पदों पर काम करने वाले भारतीय जमा होकर पार्टी करते थे और इनडोर गेम्स खेला करते थे लेकिन कलकत्ता की तुलना में मुजफ्फरपुर की शामें जल्दी खत्म हो जाया करती थी।

उस दिन किंग्सफोर्ड अंग्रेज बैरिस्टर प्रिंगल कैनेडी की पत्नी और बेटी के साथ ब्रिज खेल रहा था। 30 अप्रैल, 1908 की शाम साढ़े आठ बजे जब खेल खत्म हुआ तो दो अंग्रेज महिलाएं श्रीमती कैनेडी और ग्रेस कैनेडी घोड़े की एक बग्घी पर सवार हुईं। ये बग्घी किंग्सफोर्ड की बग्घी से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। दूसरी बग्घी में किंग्सफोर्ड और उसकी पत्नी सवार हुए। उन महिलाओं ने वही सड़क ली जो किंग्सफोर्ड के घर के सामने से होकर जाती थी।

नूरुल होदा अपनी किताब 'द अलीपुर बॉम्ब केस' में लिखते हैं, 'वो अंधेरी रात थी। जब बग्घी किंग्सफोर्ड के घर के अहाते के पूर्वी गेट पर पहुंची तो सड़क के दक्षिणी छोर पर छिपे हुए दो लोग उसकी तरफ दौड़े। उन्होंने बग्घी के अंदर बम फेंक दिया।'

'बग्घी के परखच्चे उड़ गए और उसमें सवार दो महिलाओं को गंभीर चोट लगी' बग्घी का सईस संगत दोसाध जो कि बग्घी के पीछे फुटबोर्ड पर खड़ा हुआ था घायल होकर नीचे गिरा और बेहोश हो गया। घायल लोगों को किंग्सफोर्ड के घर लाया गया। ग्रेस कैनेडी की एक घंटे के अंदर मौत हो गई जबकि श्रीमती कैनेडी अगले 24 घंटों तक ज़िंदगी और मौत के बीच झूलती रहीं। 2 मई को उनकी भी मौत हो गई।'

### बोस और चाकी पर 5000 रुपए का ईनाम घोषित

घटना के रिकॉर्ड में कहा गया, 'बम का धमाका इतना तेज नहीं था। लेकिन उसको इतने अचूक निशाने के साथ फेंका गया था कि अगर हत्यारों से निशाना लेने में एक फीट की भी गलती हुई होती तो दो महिलाओं में कम से कम एक की जान बच जाती।'

जब कलकत्ता पुलिस ने किंग्सफोर्ड की संभावित हत्या के बारे में आगाह किया था तो उनकी सुरक्षा के लिए दो पुलिसकर्मियों तहसीलदार खॉँ और फ़ैयाजुद्दीन को तैनात किया गया था।

30 अप्रैल की शाम इन दोनों पुलिसकर्मियों को स्टेशन क्लब और किंग्सफोर्ड के घर के बीच गश्त लगाने की ज़िम्मेदारी दी गई थी। साढ़े आठ बजे उन्हीं पुलिसकर्मियों ने किंग्सफोर्ड के घर के बाहर धमाका सुना था और वहां से दो लोगों को दक्षिण की तरफ भागते हुए देखा था लेकिन फिर वो लोग अंधेरे में खो गए थे।

खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी वहां से भाग तो निकले लेकिन जल्दबाज़ी में खुदीराम के जूते वहीं रह गए। घटना के बाद ज़िला के पुलिस अधीक्षक ने मुजफ्फरपुर से मोकामा और बांकीपुर की दिशा में इन लोगों को पकड़ने के लिए कई पुलिसकर्मियों को रवाना किया था। ज़िला प्रशासन ने ये भी घोषणा की थी कि जो शख्स इन लोगों के बारे में सूचना देगा उसे 5000 रुपए का ईनाम दिया जाएगा।

### खुदीराम बोस की गिरफ्तारी

पूरे मुजफ्फरपुर शहर में सनसनी फैल गई। खुदीराम और चाकी रेल पटरियों के किनारे भागते हुए समस्तीपुर के पास वैनी रेलवे स्टेशन पहुंच गए। उन्होंने रात के अंधेरे में लगभग 24 मील की दूरी पैदल ही भागते हुए तय कर ली थी। वैनी स्टेशन के बाहर दोनों क्रांतिकारी एक-दूसरे से गले मिलकर इस संकल्प के साथ अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े कि अगर जीवन रहा तो कलकत्ता में फिर मिलेंगे।

लक्ष्मेंद्र चोपड़ा लिखते हैं, '1 मई, 1908 की सुबह वैनी रेलवे स्टेशन के पास किशोर खुदीराम पानी पीकर विश्राम के लिए बैठे ही थे कि उन्होंने सुना कि लोग आपस में रात की घटना की चर्चा कर रहे हैं। उसमें से किसी ने कहा, 'वो किंग्सफोर्ड तो नहीं मरा इस बम से, लेकिन अंग्रेज़ मां-बेटी मारी गई।'

'यह सुनकर खुदीराम को धक्का लगा। उनके मुंह से अनायास निकला, 'तो क्या किंग्सफोर्ड नहीं मरा?' वहां पर अंग्रेज़ पुलिस के कुछ सिपाही और जासूस भी घूम रहे थे। खुदीराम की थकावट, उत्तेजना, उम्र के साथ-साथ उसका बांग्ला बोलने का लहजा और नंगे पांव होने के कारण संदेह में खुदीराम फ़ौरन पकड़ लिया गया। जब उन्हें पकड़ा जा रहा था उस वक्त उनके कपड़ों से एक रिवाल्वर नीचे गिर गया। उन्होंने फायर करने की मंशा से तुरंत एक छोटा लोडेड रिवाल्वर निकाल लिया। उनकी जेब से 37 कारतूस और 30 रुपए भी मिले।'

### जूतों को पैर में पहना कर देखा गया

लक्ष्मेंद्र चोपड़ा लिखते हैं, 'खुदीराम की कमर से एक धारीदार कोट बंधा हुआ था। बाद में तहसीलदार खॉँ ने पहचाना कि क्लब के अहाते के बाहर खुदीराम बोस यही कोट पहने हुए थे। बोस की गिरफ्तारी की खबर सुनकर उन्हें लाने के लिए ज़िला मजिस्ट्रेट वैनी पहुंच गए। बाद में तहसीलदार और फ़ैयाजुद्दीन ने खुदीराम बोस

की शिनाख्त की और कहा कि ये उन दो लोगों में से एक थे जो 30 अप्रैल, 1908 के क्लब के सामने दिखे थे।'

घटनास्थल पर पाए गए जूतों को खुदीराम बोस को पहना कर देखा गया। जूते उनको बिल्कुल सही आए। खुदीराम ने खुद स्वीकार किया कि ये उनके ही जूते हैं।

पुलिस की पूछताछ में बोस ने अपने साथी का असली नाम न बताकर उसका नाम दिनेश चंद्र रॉय बताया। खुदीराम ने माना कि उनसे किंग्सफोर्ड की बग्गी को पहचानने में गलती हुई थी। खुदीराम बोस जब पुलिस बंदी के रूप में मुजफ्फरपुर स्टेशन पहुंचे तो वहां बड़ी संख्या में लोग उनकी एक झलक देखने के लिए खड़े थे।

### प्रफुल्ल चाकी ने खुद को गोली मारी

1 मई की शाम 6 बजे सब-इंस्पेक्टर नंदलाल बनर्जी ने सिंहभूम जाने के लिए ट्रेन पकड़ी। समस्तीपुर स्टेशन पर नंदलाल ने प्लेटफॉर्म पर एक बंगाली युवक को नए कपड़े और जूते पहने हुए देखा। उनकी वेशभूषा से उन्हें कुछ शक हुआ।

वो उस डिब्बे में घुस गए जहां वो युवक बैठा था। उन्होंने उस युवक से बातचीत करने की कोशिश की जिससे वो युवक चौंक गया। वो युवक डिब्बा छोड़कर दूसरे डिब्बे में चला गया। मोकामा घाट स्टेशन पर नंदलाल फिर उस डिब्बे में आ गया जिसमें वो युवक बैठा हुआ था।

इस बीच सब-इंस्पेक्टर ने अपने शक के बारे में मुजफ्फरपुर पुलिस को तार दे दिया। मोकामा स्टेशन पर उसे जवाबी तार मिला कि वो उस युवक को शक के आधार पर तुरंत गिरफ्तार कर ले। जैसे ही युवक को पता चला कि उसे पकड़ा जा रहा है वो प्लेटफॉर्म पर कूद गया।

नूरुल होदा लिखते हैं, 'युवक लेडीज़ वेटिंग रूम की तरफ भागा जहां जीआरपी के एक जवान ने उसे पकड़ने की कोशिश की। तभी उस युवक ने पिस्टल निकाल कर उस जवान की तरफ फायर किया लेकिन उसका निशाना चूक गया। घेर लिए जाने के बाद उसने अपने आप को दो गोलियां मारीं, एक कॉलर बोन के पास और दूसरी गले में। वो व्यक्ति वहीं गिर गया और उसी स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई।'

### एक महीने के अंदर ही फांसी की सजा सुनाई गई

प्रफुल्ल चाकी के शव को शिनाख्त के लिए मुजफ्फरपुर ले जाया गया जहां तहसीलदार खाँ और फैयाजुद्दीन ने शिनाख्त की कि ये वही शख्स है जो खुदीराम बोस के साथ क्लब के अहाते के पास मंडरा रहा था। बाद में जिला मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में प्रफुल्ल चाकी के शव को खुदीराम बोस को दिखाया गया।

खुदीराम बोस ने अपने साथी के शव की पहचान की लेकिन उन्होंने उसका नाम दिनेश चंद्र रॉय बताया। जब उनको चाकी की पिस्टल

दिखाई गई तो वो उसको नहीं पहचान पाए लेकिन उन्होंने ये ज़रूर कहा कि दिनेश ने उन्हें बताया था कि उसके पास एक पिस्टल है।

इस घटना के पांच महीने बाद 9 नवंबर, 1908 को प्रफुल्ल चाकी को गिरफ्तार करने वाले नंदलाल बनर्जी की कलकत्ता में श्रीशचंद्र पाल और गनेंद्रनाथ गांगुली ने गोली मारकर हत्या कर दी।

खुदीराम बोस पर अपर सत्र न्यायाधीश एच डब्लू कॉर्नडफ की अदालत में हत्या का मुकदमा चलाया गया। जब खुदीराम को अदालत में लाया जाता था तो सड़क के दोनों तरफ खड़े लोग ज़िन्दाबाद और वन्दे मातरम के नारों के साथ उनका स्वागत करते थे। 13 जून, 1908 को अदालत ने खुदीराम बोस को फांसी की सजा सुनाई।

### पूरे भारत में शोक

11 अगस्त, 1908 को सुबह 6 बजे भारत की आजादी के इतिहास में पहली बार एक किशोर को फांसी दी गई। उस समय उनके हाथ में गीता की एक प्रति थी और उनकी उम्र थी 18 साल, 8 महीने और 8 दिन। जेल के बाहर उन्हें विदाई देने के लिए एक बड़ी भीड़ वन्दे मातरम का नारा लगा रही थी।

### लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने खुदीराम बोस की शहादत पर कई लेख लिखे

पुणे से प्रकाशित मराठा के 10 मई, 1908 के अंक में उन्होंने लिखा, 'यह चरम प्रतिवाद को साकार रूप में प्रस्तुत करने के लिए चरम विद्रोह का मार्ग है और इसके लिए अंग्रेज़ सरकार ही जिम्मेदार है।' पूरे देश में खुदीराम बोस के चित्र बांटे गए। अपने एक व्याख्यान में साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट को खुदीराम बोस को श्रद्धांजलि देने के आरोप में अध्यापक की अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी। खुदीराम बोस के एक चित्र को मुंशी प्रेमचंद ने अपने अध्ययन कक्ष की दीवार पर स्थान दिया था। खुदीराम बोस की शहादत का सबसे बड़ा असर विद्यार्थियों पर पड़ा। उनके बीच वन्दे मातरम और आनंदमठ के पठन-पाठन में रुचि पैदा होती गई।

बंगाल के दस्तकारों ने एक खास धोती बुननी शुरू कर दी जिसके किनारे पर खुदीराम लिखा रहता था। पीताम्बर दास ने उनके सम्मान में एक गीत लिखा था जो आज भी बंगाल के घर-घर में गाया जाता है। ये गीत है—'एक बार बिदाए दे मा घूरे आशि' (एक बार विदा तो दे मां, ताकी मैं घूम कर आ जाऊं)।

इस गीत की आखिरी पंक्तियों में लिखा है—

दश माश दश दिन पोरे, जन्मो नेबो माशीर घरे मा गो, तॉखोन जोदी ना चीनते पारिश, देखबी गोलाए फांशी (ओ मां, आज से 10 महीने 10 दिन के बाद मैं मौसी के घर फिर जन्म लेकर लौटूंगा, अगर मुझे न पहचान पाओ तो मेरे गले में फांसी से फंदे का निशान देखना।)

साभार : [bbc.co.uk/hindi](http://bbc.co.uk/hindi)

( जन्म : 07 अक्टूबर, 1907, शहादत : 15 अक्टूबर, 1999 )

# सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष के प्रतीक नायक थे शहीद अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ

देश की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए हंसते-हंसते फांसी का फंदा चूमने वाले अशफ़ाक़ उल्ला खान जंग-ए-आज़ादी के महानायक थे। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के अमर फ़ौजी, काकोरी कांड के शहीद अशफ़ाक़ शहीद बिस्मिल के अनन्य मित्र और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक पुरुष थे। अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ का जन्म उत्तर प्रदेश के शहीदगढ़, शाहजहाँपुर में रेलवे स्टेशन के पास स्थित कदनखैल जलालनगर मुहल्ले में 22 अक्टूबर 1900 को हुआ था। उनके पिता का नाम मोहम्मद शफीक़ उल्ला ख़ाँ था।

## क्रान्तिकारी जीवन का विकास

1922 में जब असहयोग आन्दोलन आन्दोलन शुरू हुआ और जब बिस्मिल ने शाहजहाँपुर में लोगों को इस अभियान के बारे में बताने के लिये मीटिंग आयोजित की तब एक पब्लिक मीटिंग में अशफ़ाक़ उल्ला का मुलाकात बिस्मिल से हुई थी।

चौरी-चौरा कांड के बाद जब गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया था, तब हजारों की संख्या में युवा क्रान्तिकारी अर्चभित हो गए। अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ उन्हीं में से एक थे। 1922 की गया कांग्रेस के बाद कांग्रेस पार्टी से अलग होकर धनाढ्य लोगों की स्वराज पार्टी बनी। असहयोग आन्दोलन के धोखे से सचेत युवाओं ने क्रान्तिकारी संगठनों के साथ मिलकर क्रान्तिकारी दल 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का गठन किया। अशफ़ाक़ इस दल के सिपाही बने।

काकोरी कांड के बाद जब अशफ़ाक़ को गिरफ्तार कर लिया गया तो अंग्रेजों ने उन्हें सरकारी गवाह बनाने की कोशिश की और कहा कि यदि हिन्दुस्तान आज़ाद हो भी गया तो उस पर हिन्दुओं का राज होगा, मुसलमानों को कुछ नहीं मिलेगा। इसके जवाब में अशफ़ाक़ ने ब्रितानिया हुकूमत के कारिन्दों से कहा कि फूट डालकर शासन करने की अंग्रेजों की चाल का उन पर कोई असर नहीं होगा और हिन्दुस्तान आज़ाद होकर रहेगा।

19 दिसंबर, 1927 को जालिम अंग्रेजों ने चार नौजवान क्रान्तिकारियों में से तीन : राम प्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़ उल्ला खान, राजेंद्र नाथ लाहिड़ी तथा 17 दिसंबर को रोशन सिंह को फांसी पर लटका दिया था। काकोरी के शहीदों के महत्वपूर्ण होने की एक वजह थी कि आज़ादी के आंदोलन के दौरान अंग्रेज जो फूट डालो और राज करो की नीति अपना रहे थे और लगातार जो तमाम सांप्रदायिक दंगे भड़काने की कोशिश कर रहे थे, इन शहीदों ने अंग्रेजों की इन सभी नीतियों को नाकाम करते हुए हिंदू और मुस्लिम एकता को स्थापित किया। आज जब देश में साम्प्रदायिक उन्माद शीर्ष पर है, तब काकोरी के इन शहीदों को याद करने की जरूरत और ज्यादा हो गई है।

## अशफ़ाक़-बिस्मिल की दोस्ती : साज़ी शहादत-साज़ी विरासत

अशफ़ाक़ उल्ला को रामप्रसाद बिस्मिल के बगैर और रामप्रसाद बिस्मिल को अशफ़ाक़ के बगैर याद नहीं किया जा सकता। इसलिए नहीं कि दोनों आज़ादी के दीवाने थे। इसलिए भी नहीं कि काकोरी कांड में दोनों को फांसी हुई। इसलिए भी नहीं कि दोनों शाहजहानपुर के थे। बल्कि इसलिए कि यह हमारे स्वतंत्रता आंदोलन की ऐसी जुड़वां शख्सियत और मूल्य हैं जो हमारे आज़ाद भारत के लिए भी मॉडल हैं।

एक कट्टर आर्यसमाजी शुद्धिकरण कराने वाला और एक कट्टर नमाज़ी मुसलमान पाँचों वक्त नमाज़ पढ़ने वाला। पर देश की आज़ादी के लिए दोनों ने फांसी के फंदे को चूम लिया। यही साज़ी शहादत हमारी साज़ी परम्परा है। इसके बिना हम हिंदुस्तान की कल्पना नहीं कर सकते, इस परम्परा की मजबूती की आज सबसे ज्यादा जरूरत है।

## अशफ़ाक़ का अंतिम संदेश

'हिन्दुस्तानी भाइयो! आप चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले हों, देश के काम में साथ दो। व्यर्थ आपस में न लड़ो।'— (फांसी के ठीक पहले फैजाबाद जेल से भेजे गये काकोरी काण्ड के शहीद अशफ़ाक़ उल्ला के अन्तिम संदेश से)

साभार : mehnatkash.in

# क्या गैर हिंदुओं के बारे में न जानकर हिंदू सांस्कृतिक रूप से समृद्ध हैं या दरिद्र

अपूर्वानंद

आज के भारत में खासकर हिंदुओं के लिए ज़रूरी है कि वे गैर हिंदुओं के धर्म, ग्रंथों, व्यक्तित्वों, उनके धार्मिक आचार-व्यवहार को जानें। मुसलमान, ईसाई, सिख या आदिवासी तो हिंदू धर्म के बारे में काफ़ी कुछ जानते हैं लेकिन हिंदू प्रायः इस मामले में सिर्फ़ होते हैं। बहुत से लोग मोहर्रम पर भी मुबारकबाद दे डालते हैं। ईस्टर और बड़ा दिन में क्या अंतर है? आदिवासी विश्वासों के बारे में तो कुछ नहीं मालूम।

उज्जैन में पैगंबर हज़रत मोहम्मद के जीवन पर निबंध प्रतियोगिता नहीं की जा सकी। पैगामे इंसानियत सोसाइटी के द्वारा यह प्रतियोगिता गैर मुसलमान लोगों के लिए आयोजित की जा रही थी। यह कोई खुफिया तरीके से नहीं हो रहा था। पोस्टर आदि के ज़रिये सार्वजनिक सूचना देकर लोगों को इसमें भाग लेने को आमंत्रित किया गया था। विजेताओं को नकद पुरस्कार की भी घोषणा थी।

हिंदुत्ववादी संगठनों के कान खड़े हो गए। मध्य प्रदेश के हिंदू भावनाओं के स्वनियुक्त मंत्री श्री नरोत्तम मिश्रा को तो यह बात समझ में ही नहीं आई कि गैर मुसलमानों को पैगंबर के बारे में जानने और उन पर लिखने के लिए आमंत्रित करने जैसा अजीब काम क्यों जाना चाहिए! उन्होंने फौरन इंदौर के अधिकारियों को फोन करके प्रतियोगिता रोकने का आदेश दिया।

हिंदुत्ववादी संगठनों को आशंका हुई कि कहीं मोहम्मद साहब की जीवनी से परिचय करवा के हिंदुओं का धर्मांतरण करने की साज़िश तो नहीं की जा रही। ऐसा क्यों लगा कि मोहम्मद साहब की जीवनी पढ़कर कोई मुसलमान हो सकता है?

भारत में तो हिंदुत्ववादी संगठनों और व्यक्तियों ने पिछले कुछ वर्षों से मोहम्मद साहब को गाली-गलौज करने

और उनके बारे में अपमानजनक टिप्पणियां करने का एक उद्योग-सा स्थापित कर दिया है। उनके माध्यम से अगर कोई पैगंबर के बारे में जानना चाहे तो क्या मालूम होगा?

लेकिन हम इस बात को यहीं छोड़ दें। उनका उद्देश्य उनसे हिंदुओं का परिचय करवाना भी नहीं है। मक़सद मुसलमानों के खिलाफ़ घृणा का प्रचार है। उनके लिए यह साबित करना ज़रूरी है कि मुसलमानों के धर्म में, उनके धर्म से जुड़े व्यक्तियों, उनके ग्रंथ में ही गड़बड़ी है। फिर जो कुरान या मोहम्मद साहब को माने, वह अच्छा हो ही कैसे सकता है? इस तरह मुसलमान नहीं, इस्लाम मात्र के प्रति शंका और घृणा गहरी की जाती है।

बहुत आश्चर्य न होना चाहिए अगर इस प्रतियोगिता के संदर्भ में अदालत भी कहे कि भला मुसलमान क्यों चाहते हैं कि उनके पैगंबर के बारे में गैर मुसलमान जानें। ज़रूर कोई साज़िश होगी। इस देश में यह स्वाभाविक ही होगा। क्योंकि यहां यह माना जाता है कि हम सबको सिर्फ़ अपने-अपने दायरों में रहना चाहिए। क्यों हिंदू मुसलमान से प्रेम करे? क्यों ब्राह्मण और दलित से दूसरे से रिश्ता बनाएं? यह हमारा राष्ट्रीय स्वभाव है। जो दायरे के अतिक्रमण का प्रयास करता है, उसकी हत्या तक की जा सकती है।

‘पैगामे इंसानियत’ गैर मुसलमानों को मोहम्मद साहब के बारे में जानने और फिर उस पर अपने विचार व्यक्त करने का अवसर दे कर इसी घेराबंदी को तोड़ने का प्रयास कर रहा था। यह कैसे करने दिया जा सकता है?

हिंदू, ईसाई, पारसी, सिख, मुसलमान एक दूसरे के बारे में जानें, उनकी एक दूसरे के प्रति उत्सुकता हो तो समाज परस्परापेक्षी बनेगा। हम दूसरों को भी बतौर इंसान देख पाएंगे। जितना अधिक जान पाएंगे उतना ही हमारी समझ में यह बात आएगी कि अगर ज्यादातर मामलों में हमारी तरह हैं तो उनमें भी हमारी तरह की कई विचित्रताएं हैं। उनके ग्रंथों में, उनके धार्मिक और सामाजिक व्यवहार में बहुत कुछ ऐसा है जो हमारे यहां नहीं और वह आदरणीय है।

अलावा इसके कि ऐसा भी है जो हमें अजीब जान पड़े। वह हमें क्यों वह विचित्र जान पड़ता है जो उनके लिए सहज है, यह सवाल हमारे मन में उठना चाहिए। इस तरह हमारी जानकारी और संवेदनशीलता का वृत्त बड़ा होगा।

आज के भारत में खासकर हिंदुओं के लिए जरूरी है कि वे गैर हिंदुओं के धर्मों, उनके ग्रंथों और व्यक्तित्वों, उनके धार्मिक आचार-व्यवहार से परिचय प्राप्त करें। अनुभव से हम जानते हैं और सर्वेक्षण से पुष्ट कर सकते हैं कि मुसलमान या ईसाई या सिख अथवा आदिवासी तो हिंदू धर्म, उसके रीति-रिवाजों के बारे में काफी कुछ जानते हैं लेकिन हिंदू प्रायः इस मामले में सिफर होते हैं। बहुत से मोहर्रम पर भी मुबारकबाद दे डालते हैं। ईस्टर और बड़ा दिन में क्या अंतर है? क्या हम शबे बारात का अर्थ भी जानते हैं? आदिवासी विश्वासों के विषय में तो हमें कुछ नहीं मालूम।

फिर हम सांस्कृतिक रूप से समृद्ध हैं या दरिद्र? क्या इस प्रकार की ना जानकारी गर्व की बात है या संकोच की? यह प्रश्न हम नहीं करते। हमें गुमान है कि बाक्री सबको हिंदू धर्म के बारे में जानना चाहिए क्योंकि यह सबसे श्रेष्ठ है। बाक्री सारे धर्मों और धर्मावलंबियों को हम हेय दृष्टि से देखते हैं। उनके बारे में हम क्यों जानें?

यह हमें उचित ही जान पड़ता है कि जन्माष्टमी पर मुसलमान अपने बच्चों को कृष्ण के भेष में सजाएं। लेकिन ईद पर टोपी पहनना हमें गवारा नहीं। दूसरे हमारे पवित्र अवसरों का सम्मान करें, जैसे कांवड़ियों को मुसलमान पानी पिलाएं, यह तो हमें अपना अधिकार जान पड़ता है लेकिन

ईद या गुरु परब पर हम हिंदुओं को भी कुछ करना चाहिए, यह हम सोचते नहीं।

भारत में हिंदू संख्या में ज्यादा हैं, उनके तरह-तरह के पर्व, त्योहार संख्या में दूसरों के मुकाबले कहीं अधिक हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि हिंदूतर लोगों को इसके बारे में मालूम हो। दूसरे लोग हिंदुओं से घिरे हैं इसलिए वे तो हिंदू धर्म, समाज, रीति-रिवाज के बारे में अपने आप ही जान जाएंगे। स्कूलों में या स्कूली किताबों में भी इनके बारे में बताया जाता है। लेकिन स्कूल यह कोशिश नहीं करते कि गैर हिंदू धार्मिक परंपराओं के बारे में जानकारी दें।

अब मिली-जुली आबादियां भी नहीं रह गई हैं। मुसलमानों, दलितों को भी प्रायः ऐसे इलाकों में मकान मिलने में बहुत परेशानी झेलनी पड़ती है। हाउसिंग कॉलोनियों में मंदिर तो हैं लेकिन और कोई धर्मस्थल नहीं। फिर हिंदू कैसे जान पाएंगे कि उनके अलावा बाकी धर्म हैं क्या?

ऐसा वक्त था जब यह बुरा नहीं बल्कि काम्य माना जाता था कि हम दूसरों के बारे में जानें। हमारे लेखक, कवि दूसरे धर्मों के विषय में उत्सुकता रखते थे और उनके बारे में लिखते भी थे। यह नहीं कि एक दूसरे से दुराव न था या एक दूसरे के बारे में आग्रह, पूर्वाग्रह या दुराग्रह नहीं थे। लेकिन साथ-साथ यह कोशिश भी रहती थी कि दूसरी धार्मिक परंपराओं, शिखरियों के बारे में जानें।

खड़ी बोली हिंदी के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह दिख जाएंगे। फिर भी वे इस्लाम के पंच रत्नों के बारे में निबंध लिखते हैं। इन रत्नों में अग्रणी हैं मोहम्मद साहब। उनके जीवन को भारतेंदु प्रेरणादायक मानते हैं।

खड़ी बोली हिंदी के पहले बड़े कवि मैथिलीशरण गुप्त को उनके काव्य ग्रंथ ‘भारत भारती’ और ‘हिंदू’ के लिए याद किया जाता है। उनसे बड़ा हिंदू लेखक शायद हो कोई हो। उन्होंने ‘काबा और कर्बला’ नामक काव्य ग्रंथ की रचना की। इसकी भूमिका भी पठनीय है, ‘इस यात्रा में जिन अनेक तीर्थ पुरोहितों ने, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में पथ प्रदर्शन किया है, वस्तुतः वे ही उसके पुण्याधिकारी हैं। ... (लेखक)... के मन में एक आकांक्षा अवश्य थी और बहुत दिनों से थी... तीस वर्ष पहले लेखक ने मोहम्मद साहब के कुछ विचार पद्यबद्ध करने का प्रयत्न किया था।’

गुप्तजी लिखते हैं कि कई बार आक्रमणकारियों के कठोर कर्मों से आक्रांत लोगों में उनके धर्मों के विषय में भी भ्रांत धारणाएं बैठ जाती हैं। अन्यथा मूलतः सभी धर्मों के एक ही उद्देश्य होते हैं और उनके प्रवर्तक अपनी विशेषता रखते हैं। यह उचित ही होगा कि उनकी विशेषता से सभी परिचित हों।

संभवतः इसी कारण उन्होंने इस्लाम के प्रवर्तक मोहम्मद साहब के बारे में लिखा। इस्लाम से जुड़ी और शख़िसयतों और वाक्यों के बारे में भी। 'काबा और कर्बला' की रचना इसी पवित्र उद्देश्य से की गई। गुप्तजी लिखते हैं, 'हज़रत मोहम्मद जैसे महान थे वैसे ही उदार, जैसे उच्च वैसे ही विनम्र...'

इसके आगे वे बतलाते हैं, 'मोहम्मद साहब ने काबा में अपने मत की प्रतिष्ठा करने में जिस सहनशीलता और धीरता का परिचय दिया, वह उन्हीं का काम था।' मोहम्मद साहब के विषय में लिखना हो या कर्बला की कथा कहना हो, तरीक़ा क्या होगा? लेखक को सुनिए, 'लेखक ने सहानुभूति और सम्मान के वश ही इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस किया है।'

ऐसा नहीं कि इस्लाम को लेकर द्वेष उस समय नहीं था जब गुप्तजी यह रचना कर रहे थे। 'रंगीला रसूल' की याद आना स्वाभाविक है। हिंदी के प्रख्यात लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी एक किताब लिखी, 'इस्लाम का विष वृक्ष'।

प्रेमचंद ने इसकी समीक्षा की और दुख प्रकट किया कि चतुरसेन ने अपनी प्रतिभा का इस प्रकार दुरुपयोग किया। ऐसी ज़हरीली किताबें बिकती अधिक हैं। लेकिन क्या एक ज़िम्मेदार और यशस्वी लेखक का यही काम है? वे गुप्तजी की तरह ही लिखते हैं, 'मुसलमानों ने हिंदुओं पर जो अत्याचार किए, उसका विषद और एकांगी विस्तार दिखाकर सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाली हिंदू जनता में मुसलमानों के प्रति द्वेष बढ़ाया जा सकता है।'

वे आचार्य की आलोचना करते हैं कि उन्होंने यूरोपियन लेखकों का सहारा लेकर साबित करने की कोशिश की है कि मोहम्मद मनुष्य का दुश्मन था और कुरान में मूर्खता के अलावा कुछ नहीं। प्रेमचंद कहते हैं कि यूरोपीय लोगों ने इस्लाम को इसलिए कलंकित किया कि फी यूनान और बलकान आदि देशों से तुर्कों को निकालना चाहते थे।

प्रेमचंद कोई धार्मिक व्यक्ति न थे लेकिन वे यह

जानते थे कि किसी एक धर्म को छांटकर उसी में सारी बुराई दिखलाना बीमार मन की निशानी है। इस समीक्षा के कोई हफ्ताभर पहले प्रेमचंद ने काशी में हुए एक समारोह की रिपोर्ट लिखी। मौका था हज़रत मोहम्मद के जन्मोत्सव का जलसा। सभापति तो डॉक्टर अब्दुल करीम थे लेकिन मुख्य वक्ता एक हिंदू पंडित सुंदरलाल जी थे।

पंडितजी का व्याख्यान क्यों महत्वपूर्ण था? प्रेमचंद अफ़सोस ज़ाहिर करते हैं कि 'इतनी सदियों तक एक साथ पड़ोस में रहने पर भी हिंदू और मुसलमान एक दूसरे से धार्मिक सिद्धांतों और सच्चाई से इतने अपरिचित हैं...'. पंडितजी के व्याख्यान से वे हिंदू ज़रूर चकित हुए होंगे जिन्होंने मोहम्मद साहब और इस्लाम के बारे में 'रंगीला रसूल' जैसी किताब पढ़कर अपनी धारणा बनाई होगी।

प्रेमचंद ने आगे लिखा, 'यह आम तौर पर कहा जाता है कि इस्लाम धर्म तलवार के जोर से फैला और यह कि हज़रत मोहम्मद ने अपने संप्रदाय को आज्ञा दी है कि काफ़िरों को कत्ल करना ही स्वर्ग की कुंजी है, पर पंडित जी ने बतलाया कि हज़रत मोहम्मद ने कभी किसी पर हमला नहीं किया... कत्ल करने की जगह उन्होंने सदैव क्षमा की। यह कहा जा सकता है कि क्षमा उनके जीवन का मुख्य तत्त्व था... बराबर यही कहा करते थे कि मैं खुदा की तरफ से उसकी दया और प्रेम का पैगाम लेकर आया हूँ, कत्ल करने नहीं।'

क्या आश्चर्य की बात है कि गुप्तजी ने भी ठीक यही लिखा। पंडितजी ने इस दुष्प्रचार का भी उत्तर दिया कि हज़रत विलासी थे। वास्तव में उनका जीवन कठोर तपस्या का था।

प्रेमचंद हों या पंडित सुंदरलाल या मैथिलीशरण गुप्त, हज़रत मोहम्मद के बारे में जानने के बाद मुसलमान नहीं हो गए। बेहतर हिंदू और इंसान ज़रूर बने। उन्हें अपने धर्म को लेकर कोई असुरक्षा न थी।

हिंदुओं में जैसे 100 साल पहले, वैसे ही आज भी असुरक्षा पैदा करने की कोशिश की जा रही है। यहां तक कहा जा रहा है कि पढ़ोगे तो दिमाग़ फिर जाएगा। दूसरे धर्मों के बारे में जानोगे तो कहीं हिंदू धर्म न छोड़ बैठो। यह विचार तो हिंदुओं को करना है कि वे नरोत्तम मिश्रा का अनुकरण करते हैं या मैथिली शरण गुप्त, प्रेमचंद और पंडित सुंदरलाल का!

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)

# मुख्तार बैडवाले : जिस फेफड़े ने पूरे बनारस को थिरकाया, उसकी अंतिम सांस के लिए ऑक्सीजन न जुटाने का दर्द

हेमंत शर्मा

मुख्तार हाशमी को मैं कैसे भूल सकता हूँ? वे बनारस में बैण्ड बाजों के 'खुद मुख्तार' थे। बेहद शफीक, गज़ब के यारबाज़, मोहब्बत आमेज़, पुरखुलूस, हर वक्त मदद को तैयार बेहतरीन इंसान। सुर संगीत के साधक, बनारस की शान। पंजाब बैण्ड के 'जुबिन मेहता'। संजीदा, जीवंत और संवेदनशील। आज भी बनारस में आपको जो नामी बैण्ड वाले मिलेंगे, वे पंजाब बैण्ड से टूटे उपग्रह ही होंगे। मुख्तार भाई बेजोड़ बैण्ड मास्टर थे। बनारस के कालभैरव मंदिर के पास पांच सौ साल से रहने वाला उनका इकलौता मुस्लिम परिवार था। ये परिवार बीती पांच सदी से बनारसी जीवन में संगीत का रस घोल रहा है। चाहे वह मंदिर का संगीत हो, शिव की बारात हो, गुरु नानक देव की शोभा यात्रा हो, किसी राष्ट्रध्यक्ष का स्वागत हो या फिर मेरे जैसे बनारसियों की बारात। मुख्तार हर कहीं अपने बैण्ड के साथ मौजूद मिलते। बैण्ड उनका रोज़गार नहीं, पैशन था। उनकी सोच साफ थी। जो खोया उसका गम नहीं, जो पाया वह किसी से कम नहीं।

मेरे लिए मुख्तार को याद करना, जिंदादिली की एक सदी को याद करना है। मुख्तार सिर्फ बैण्ड मास्टर नहीं थे। शहर की सांस्कृतिक, राजनैतिक गतिविधियों में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी होती थी। जब तक मैं बनारस में था, तो मुख्तार से अक्सर ही मुलाकात होती थी। मेरी बारात के मुख्य बैण्ड मास्टर मुख्तार ही थे। बिस्मिल्लाह खां के बेटे जामिन हुसैन खां की शहनाई के साथ, वे भी इस घटना के गवाह थे। मैं जब भी बनारस जाता तो पहले कालभैरव दर्शन के लिए जाना होता। कालभैरव काशी के कोतवाल हैं। काशी विश्वनाथ का दर्शन उनके दर्शन के बिना अधूरा रहता है। मेरे लिए कालभैरव के दर्शन से पहले मुख्तार

भाई का दर्शन अनिवार्य था क्योंकि कालभैरव के नुक्कड़ पर ही पंजाब बैण्ड की दुकान थी मुख्तार हर वक्त वहीं तशरीफ रखते थे। कालभैरव जाने से पहले रास्ते में ही मुख्तार की आवाज़ कानों में पड़ती 'भईया चाय पीलअ।' मैं हर बार उनसे कहता 'लौट के।' लौटते वक्त चाय के साथ गोल कचौड़ी भी होती। यह मुख्तार की मोहब्बत थी। ये सिलसिला कोई तीस बरस तक चला।

कोरोना महामारी में ऑक्सीजन न दिला सका शहर। हर सिलसिले का एक अंत होता है, सो इसका भी हुआ मगर तकलीफ की एक अजीब सी कसक के साथ। जिस व्यक्ति ने अपने फेफड़ों की हवा से ट्रम्पेट फूँककर हज़ारों घंटे लोगों को अपने संगीत से झुमाया, आनंद रस से सराबोर किया, लाखों पांवों को थिरकने के लिए मजबूर किया, उनके मांगलिक कार्यों में चार चांद लगाए, उसी मुख्तार के फेफड़े ऑक्सीजन के बिना बंद हो गए। मुख्तार कोविड की दूसरी लहर में बिना ऑक्सीजन के दम तोड़ गए। उन्हें कोरोना हुआ, गंभीर हालत में आक्सीजन की तलाश में सड़कों पर भटकते रहे पर उन्हे प्राणवायु नहीं मिली। जब तक मुझे सूचना मिली, स्थिति नियंत्रण के बाहर थी। मैंने अस्पतालों को फोन करना शुरू किया। बंदोबस्त सुनिश्चित करने में एक घंटे लगे मगर तब तक वो दुनिया छोड़ गए। ये अपराध बोध आज भी मेरे सिर पर है। मेरे घर के पास ही पिपलानी कटरा वाले कब्रिस्तान में वो दफन हैं। कोविड के बाद जब बनारस गया तो वहां जाकर मैंने उनसे माफ़ी मांगी। 'मुख्तार भाई आप ताउम्र मेरे लिए बाजे में हवा फूँकते रहे और मैं आपके उन्हीं फेफड़ों में आक्सीजन न फूँक सका।' ये तकलीफ मुझे

भीतर तक सालती रही। इस दफा कालभैरव के दर्शन भी उनके बगैर हुए। लेकिन इस पूरी यात्रा में उनकी यादें मेरे कंधे पर सवार रहीं। शायर मोहम्मद अलवी के मुताबिक, 'कोई बैण्ड बाजा सा कानों में था, अजब शोर ऊंचे मकानों में था। मुझे मार के वो भी रोता रहा, तो क्या वो भी मेरे मेहरबानों में था?'

मुख्तार समाजवादी तबीयत के आदमी थे। मजलूमों और पसमान्दा समाज की फिक्र करते थे। पांच भाइयों में सबसे बड़े मुख्तार उस वक्त बैण्ड बाजे के कारोबार में आए, जब बनारस में बैण्ड बजाने का काम सिर्फ मेहतर किया करते थे। भगवान दास और झकड़, बनारस के दो पुराने और नामी मेहतर बैण्ड मास्टर थे। उनकी संततियां आज भी पानदरीबा में रहती हैं। मुख्तार के पिता और चाचा कानपुर से नए जमाने का बैण्ड सीख कोई अस्सी साल पहले बनारस आए और पंजाब बैण्ड की स्थापना की। पिता जी ही असली बैण्ड मास्टर थे। उससे पहले मुख्तार भाई के दादा झन्ना उर्फ हबीबुल्लाह और पन्ना उर्फ बिस्मिल्लाह अंग्रेजी हुकूमत के दौरान काशीराज में 'ताशा' और 'रोशन चौकी' बजाते थे। बनारस में झन्ना-पन्ना की रौशन चौकी खासी प्रसिद्ध थी।

मुख्तार भाई का बैण्ड हर शिवरात्रि की शिव बारात का मुख्य आकर्षण होता था। शिव बारात सिर्फ बनारस में ही निकलती है। इसमें भगवान शिव के सारे गण भूत, पिशाच, पागल, नशेड़ी, नंग, धड़ंग, मतवाले, लंगड़े, लूले, भिखारी, रईस सभी शामिल रहते हैं। बारात में नाना प्रकार के वाद्ययंत्र और साज भी शामिल होते हैं। शिव की यह बारात लोक में महादेव की व्याप्ति की मिसाल है जो उन्हें जनवादी भगवान बनाता है। वर्षों तक मुख्तार भाई का बैण्ड शिव बारात का नेतृत्व करता था। पंजाब बैण्ड गुरुनानक जयंती पर निकलने वाली शोभा यात्रा में भी बजता था। 1984 के दंगों के बाद न जाने क्यों बैण्ड बंद हो गया? मुख्तार ये काम पैसों के लिए नहीं बल्कि बनारसी सद्भाव और मस्ती के कारण करते थे। बनारस का ऐसा कोई बड़ा आयोजन और कोई बड़ा घर नहीं था, जिसमें उनका बैण्ड न बजता हो। इस लिहाज से मुख्तार सार्वजनिक व्यक्ति थे।

मुख्तार भाई मेरे लिए एक इतिहास की दस्तक थे भारत में 'ब्रास बैण्ड' उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में आया। हालांकि ब्रास बैण्ड की शुरुआत मिस्र से हुई। शुरू में यह लकड़ी और बाद में पीतल से बनने लगे। तांबे और चांदी से बने 'ट्रम्पेट' का भी जिक्र इतिहास में मिलता है। मिस्र के राजा 'तूतनखामेन' की कब्र से चांदी और कांसे की ट्रम्पेट यानी 'तुरही' मिली थी। धातु से बनी ट्रम्पेट 1500 ईसा पूर्व की मानी जाती है। चीन, दक्षिण

अफ्रीका, स्कैंडिनेविया और एशिया में ट्रम्पेट मिलती है। शुरुआत में ब्रास उपकरण कांस्य या जानवरों की सींग से बनते थे। यूनान यानि ग्रीस तक इस इतिहास के सिरे मिलते हैं। ग्रीस के Salpinx यानि वो ट्रम्पेट जो घुमावदार न हो, सीधे बनाए जाते थे। शोफर एक प्राचीन हीब्रू ब्रासबैण्ड है जो जानवर के सींग से बना होता है, जिसका उपयोग आज भी यहूदी समारोहों में किया जाता है। पुनर्जागरण के दौर में (14वीं से 17वीं शताब्दी में) पीतल के उपकरण विकसित होने लगे थे जो आज के आधुनिक उपकरणों से मिलते जुलते हैं। लगभग 1400-1413 के आसपास सबसे पहले S~ आकार की ट्रम्पेट बनी। साल 1597 में इटली के संगीतकार Giovanni Gabriel ने वेनिस में ब्रास बैण्ड से पहली धुन तैयार की थी जो Sonate pian'forte के नाम से मशहूर हुई। 17वीं शताब्दी में इस संगीत उपकरण की डिजाइन में कुछ नए और बड़े बदलाव हुए। 18वीं शताब्दी आते-आते ब्रास बैण्ड बजाने वाले बैण्ड समूह बनने लगे। दुनिया का पहला सिविल ब्रास बैण्ड ब्रिटेन में साल 1809 में बना। इसे Stalybridge Old Band के नाम से जाना गया। मेरी दिलचस्पी बैण्ड बाजा के भारतीय इतिहास को जानने की भी थी। इस पर ब्रिटिश लेखक ग्रेगरी डी। बूथ की लिखी किताब "Brass Bajas: Stories from the World of Indian Wedding Bands" ने मदद की। 19वीं सदी की शुरुआत से भारतीय शादियों में जश्न मनाने वालों की संख्या लगातार बढ़ती गयी। तुरही, शहनाई, और यूरोपीय ब्रास बैण्ड जैसे वाद्ययंत्रों को बारात में शामिल करने का चलन बढ़ा। इन वाद्ययंत्रों का विवाह समारोह में इस्तेमाल दरअसल अंग्रेजों का प्रभाव था। जैसे-जैसे उपनिवेशीकरण ने अपनी जड़ें जमाई, शादी से जुड़ी कई प्रथाएं मसलन रिसेप्शन और शादी के निमंत्रण कार्ड की ब्रिटिश प्रथा भारतीयों में घर कर गई। इस वक्त भारत में कोई आठ हजार से ज्यादा बैण्ड हैं। ट्रेवर हर्बर्ट और हेलेन बारलो ने अपनी किताब "Music & the British Military in the Long Nineteenth Century" में भारत में अंग्रेजी हुकूमत के बैण्ड का ब्योरा दिया है। वे लिखते हैं 'ब्रिटिश सेना ने स्थानीय लोगों में रौब गालिब करने के लिए भारत में मार्चिंग ब्रास बैण्ड की शुरुआत की। ब्रिटिश शासकों ने इसके जरिए अपनी शाही ताकत भी दिखाई। दिलचस्प बात यह है कि इम्पीरियल मिलिट्री बैण्ड के कुछ संगीतकारों ने कुछ भारतीय बैण्डों को ट्रेनिंग भी दी। ये ब्रिटिश बैण्ड वास्तव में कभी किसी बारात के साथ नहीं चलते थे। वे एक घेरे में बैठ कर संगीत बजाते थे। धीरे-धीरे इनका भी भारतीयकरण हो गया और ये बारात के साथ चलने लगे। मुख्तार भाई के पुरखे भी काशी नरेश के यहां ताशा बजाते थे बैण्ड आने



से पहले मुख्तार भाई के पुरखे भी काशी नरेश के यहां ताशा बजाते थे। तब ताशा राजघरानों का राज्य वाद्य होता था। ढोल और ताशा भारतीय वाद्य हैं। ताशा लकड़ी, धातु, चमड़े, कपड़े से बना एक ताल वाद्य है। जबकि ढोल तो आप सब जानते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप में पीट कर बजाने वाला वाद्ययंत्र है। ढोल को ही अरबी में 'नक्कारा' कहते हैं। राजदरबारों के बाहर नक्कारा होता था। हिन्दी का 'नगाड़ा' इसी का देशी रूप है। 150 ईसा पूर्व सांची के स्तूप में बनी कलाकृतियों में कलाकारों को ढोल ताशा बजाते देखा जा सकता है। ढोल ताशा वाले समूह में तीन चार बड़े बड़े ढोल होते थे। इस टीम में दो ताशा और दो झाँझ होते थे। ताशा मिस्र और झाँझ ईरान से आया था। तीनों मिलकर स्वरों के उतार चढ़ाव से जो लयकारी पेश करते हैं, वहीं इसकी ख्रासियत थी। उससे कुछ इस तरह की आवाज आती थी, 'कड़क-कड़क के झ्यम्-झ्यम्।' अब्दुल हकीम शरर की किताब 'गुजिस्ता लखनऊ' में जिक्र है कि सातवीं मुहर्रम के जुलूस में नवाब वाजिद अली शाह भी गले में ताशा डाल कर बजाया करते थे। मशकबीन और बैगपाइप ताशा का ही साथी दूसरा बाजा रौशन चौकी था। मेरी दादी इसे 'रब्बी-डब्बी, रौशन चौकी' कहा करती थीं। यह पुराना साज था। यह ईरान के शेख उर्ईस इब्ने सीना का ईजाद था। रौशन चौकी में दो शहनाई वादक भी होते थे। एक तबलची होता था जिसकी कमर में ही दो तबले बंधे होते थे। तबले लय को कायम रखते और शहनाई सुर को। लय के उतार चढ़ाव के लिए एक मशकबीन होता था जिसे अंग्रेजी में बैगपाइप कहते हैं। बैगपाइप स्काटलैण्ड का राष्ट्रीय वाद्य है। ब्रिटिश किंग एडवर्ड-VII और एडवर्ड-VIII, दोनों बैगपाइप बजाने के शौकीन थे। बैगपाइप में चमड़े के एक थैले पर पांच पाइप लगे होते हैं। एक पाइप से चमड़े के थैले में मुंह से फूंक कर हवा भरी जाती है। दूसरे पाइप का बांसुरी की तरह इस्तेमाल होता है। बाकी की तीन पाइप सहायक नाद उत्पन्न करते हैं। चमड़े का थैला मशक की शकल का होता है इसलिए उसे 'मशकबीन' भी कहते हैं। इतिहासकारों का कहना है कि पहला बैगपाइप का प्रमाण एक हिन्दी नक्काशी के जरिए कोई 1000 ईसा पूर्व मिला था। रोमन इतिहासकार सुएटोनियस ने दूसरी शती में रोमन सम्राट नीरो को ऐसा ही वाद्य बजाते चित्रित किया था। इसे बैगपाइप बताया गया है। नीरो की बैगपाइप बजाती छवि तब के सिक्कों पर भी मिलती है। ब्रिटिश हुकूमत के दौर में जिस बैगपाइप को अंग्रेज स्काटलैण्ड से यहां लाए, उसे ही मशकबीन, मशकबाजा, बीनबाजा और मोरबीन के रूप में जाना जाने लगा। ताशा के साथ मशकबीन और शहनाई रौशनचौकी के खास अंग थे रौशन चौकी दरबारी बाजा था। राजमहल के चारों ओर रात में

गश्त के साथ रौशनचौकी बजा करती थी। इसे आनंदप्रद बाजा माना जाता था। इसके दो मक्रसद थे। यह एक तो राजा को सुलाने का संगीत था और प्रजा को साथ ही गश्त का अहसास होता रहता था। कवि रघुबीर सहाय ने इन्हीं बैण्ड वालों के लिए शायद लिखा था।

राष्ट्रगीत में भला कौन वह  
भारत-भाग्य-विधाता है  
फटा सुथन्ना पहने जिसका  
गुन हरचरना गाता है  
मखमल टमटम बल्लम तुरही  
पगड़ी छत्र चंवर के साथ  
तोप छुड़ाकर ढोल बजाकर  
जय-जय कौन कराता है

बिटिया की शादी में मुझसे बड़ी गलती हुई

मुख्तार भाई ने मेरे और मेरे भाई साहब की शादी में बैण्ड बजाया था। मेरा उनसे अपनापा इसके बाद और गाढ़ा हुआ। ये सिलसिला बाद में मित्रता में बदल गया। उसके बाद हर बार वह मुझे ताकीद कराते कि अब तो बच्चों की शादी में मुझे बजाना है। बिटिया की शादी में मुझसे बड़ी गलती हुई। बनारस से सब आए। बनारस से पंडित जी, भोजन का इंतजाम करने के लिए हलवाई और मोछू दाना वाले तक, पर मैं मुख्तार भाई को भूल गया। दिमाग से उतर गया। मुख्तार को बुरा लगा। जब मिले तो शिकायत कि 'मुझे ही भूल गए। बनारस से हजारों लोग गइलन, हमई भारी रहलीं। वह मेरी भी बेटी थी। मैं आपसे कोई खर्चा भी नहीं मांग रहा था। मेरे साथ यह व्यवहार क्यों?' मैंने माफी मांगी। मुख्तार दिमाग से उतर गए थे। 'चलिए लड़के की शादी में आप कई दिन तक बजाइएगा।' मैंने उन्हें आने वाले वक्त का वचन दिया। मगर ये वचन अब अधूरा रह गया। मुख्तार के असमय जाने से उन्हें न बुला पाने की मेरी आत्मग्लानि और बढ़ गई। पर किया क्या जा सकता था? हम यहीं लाचार हो जाते हैं। मुख्तार भाई मेरे लिए उत्सव का प्रतीक थे। उनकी फनकारी किसी भी उत्सव में जान फूंक देती थी। जब भी किसी बैंड की धुन मेरे कानों में पड़ती है, लगता है, कि मुख्तार भाई सामने खड़े हैं। झूमते हुए, बजाते हुए, जिंदादिली में गाते हुए। मौत ने उनका शरीर छीन लिया है पर रूह आज भी किसी बैंड की धुन पर करवट ले रही है। मानो मुख्तार भाई, अपनी मौत के बाद भी इस नश्वर संसार को अपने बैंड की धुन में नचा रहे हों। उन्हे प्रणाम ।

साभार : फेसबुक की वॉल से साभार

( जन्म : 22 अक्टूबर, 1900, शहादत : 19 दिसम्बर, 1927 )

# दुर्गा भाभी : जिन्होंने भगत सिंह के साथ मिलकर अंग्रेजों को चटाई थी धूल

निशा डागर

कहानी है दुर्गा देवी वोहरा की, जिन्हें हम दुर्गा भाभी के नाम से जानते हैं। दुर्गा भाभी ने गुमनामी की ज़िन्दगी जीकर भी, देश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए अंग्रेजों की ईंट से ईंट बजा दी थी। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान न केवल महत्वपूर्ण गतिविधियों को अंजाम दिया बल्कि भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव के जीवन पर भी इनका गहरा प्रभाव रहा।

भारत को एक बहुत लम्बे संघर्ष के बाद आज़ादी मिली थी। पर इस आज़ादी को दिलाने के लिए अपने प्राणों तक की आहुति देने वाले स्वतंत्रता सेनानियों को आज हम भूलते जा रहे हैं। खासकर, उन महिला स्वतंत्रता सेनानियों को, जिन्होंने पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर देश की स्वतंत्रता में अहम भूमिका निभाई थी।

ऐसी ही एक भूली-बिसरी कहानी है दुर्गा देवी वोहरा की, जिन्हें हम दुर्गा भाभी के नाम से जानते हैं। दुर्गा भाभी ने गुमनामी की ज़िन्दगी जीकर भी, देश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए अंग्रेजों की ईंट से ईंट बजा दी थी।

उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान न केवल महत्वपूर्ण गतिविधियों को अंजाम दिया बल्कि भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव के जीवन पर भी इनका गहरा प्रभाव रहा।

अपने माता-पिता की इकलौती संतान दुर्गा को उनकी माँ की मृत्यु के बाद उनकी एक रिश्तेदार ने पाला, क्योंकि उनके पिता ने भी संन्यास ले लिया था। 11 साल की कम उम्र में ही उनकी शादी भगवती चरण वोहरा से कर दी गयी थी, जो एक सपन्न गुजराती परिवार से थे और लाहौर में रहकर रेलवे के लिए काम करते थे।

बचपन से ही अंग्रेजों के अत्याचारों को देखकर बड़े हुए भगवती 1920 के दशक में सत्याग्रह के आन्दोलन से जुड़ गये। लाहौर के नेशनल कॉलेज के छात्र के रूप में उन्होंने भगत सिंह, सुखदेव और यशपाल के साथ मिलकर एक स्टडी सर्कल की शुरुआत की, जो

दुनिया भर में होने वाले क्रांतिकारी आंदोलनों के बारे में जानने-समझने के लिए बनाया गया था।

इसके तुरंत बाद, इन सभी दोस्तों ने युवाओं को स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने और सांप्रदायिकता व कुरीतियों के खिलाफ लड़ने के लिए 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना की। इस सभा के लिए इन सभी क्रांतिकारियों का भगवती के घर आना-जाना बढ़ गया।

उस समय दुर्गा देवी लाहौर में एक कॉलेज में पढ़ाती थीं। अपने घर पर आये क्रांतिकारियों से वे पहली बार सम्पर्क में आयीं, और हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) में शामिल हो गयी। एचएसआरए का लक्ष्य भारत को ब्रिटिश शासन के बंधनों से मुक्त करना था।

1920 के दशक के अंत तक, एचएसआरए के सदस्यों ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को बढ़ा दिया था और दुर्गा देवी एक महत्वपूर्ण योजनाकार के रूप में एचएसआरए का एक अभिन्न हिस्सा बन गयी। 1928 में, अपने बेटे को जन्म देने के तीन साल बाद, दुर्गा देवी को अपनी गतिविधियाँ रोकनी पड़ीं। क्योंकि अंग्रेज सिपाहियों ने एचएसआरए सदस्यों के खिलाफ क्रूर रूप से दमनकारी अभियान शुरू कर दिया था। भगवती चरण ने उस समय बम बनाने के लिए लाहौर में एक कमरा किराए पर लिया।

इस दम्पति को अच्छी तरह से पता था कि उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर पुलिस की नजर है। फिर भी, उन्होंने अपनी क्रांतिकारी

सक्रियता को जारी रखा। दिसंबर 1928 की शुरुआत में, भगवती भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की वार्षिक बैठक में भाग लेने के लिए कोलकाता गए थे।

कुछ दिनों बाद, 19 दिसंबर, 1928 को भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु ने असिस्टेंट पुलिस अधीक्षक जॉन सॉन्डर्स की हत्या कर दी। जॉन वही ब्रिटिश पुलिस अधिकारी था जिसके लाठी चार्ज के क्रूर कदम की वजह से लाला लाजपत राय शहीद हो गए थे।

इस घटना के बाद पुलिस से बचते हुए तीनों क्रान्तिकारी सहायता के लिए 'दुर्गा भाभी' के पास जा पहुंचे। पहचाने जाने से बचने के लिए भगत सिंह ने अपने बाल कटवा लिए थे और अंग्रेजी कपड़े पहन लिए थे।

बिना अपनी परवाह किये दुर्गा देवी तुरंत इनकी सहायता के लिए तैयार हो गयीं। जो पैसे उनके पति उनके बुरे समय के लिए छोड़ गए थे, वह भी उन्होंने इन क्रान्तिकारियों को दे दिए। यहाँ तक कि समाज की परवाह किये बिना, भगत सिंह की पत्नी का रूप धरकर, वे उन्हें पुलिस की नाक के नीचे से निकाल लायीं।

उस समय सामाजिक नियम-कानून ऐसे थे कि यदि कोई स्त्री और पुरुष शादीशुदा नहीं हैं, तो उनका इस तरह का कोई नाटक करना भी सवालिया दृष्टि से देखा जाता था। इस काम से जुड़े हर जोखिम को जानते हुए भी, दुर्गा देवी ने इन क्रान्तिकारियों की मदद करने का फैसला किया। उन्हें पता था कि यह संघर्ष, राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए बेहद जरूरी है। अपने तीन साल के बेटे को साथ लेकर इस साहसी महिला ने भगत सिंह और राजगुरु को परिवार का नौकर बताकर अंग्रेज सिपाहियों की नजरों से बचाया और ये तीनों लखनऊ के लिए ट्रेन में बैठ गये।

बहुरूपिया होने के लिए मशहूर, चंद्रशेखर आज़ाद ने भी औरतों को तीर्थयात्रा पर ले जाने वाले साधू का वेश बनाया और सुखदेव की माँ और बहन की मदद से लाहौर से बच निकले।

लखनऊ पहुंचते ही भगत सिंह ने भगवती चरण को एक टेलीग्राम भेजा और बताया कि वह दुर्गा भाभी के साथ कलकत्ता आ रहे हैं, जबकि राजगुरु बनारस जा रहे हैं। भगत सिंह और अपनी पत्नी को कोलकाता पहुंचा देखकर भगवती बहुत आश्चर्यचकित हुए पर साथ ही उन्हें गर्व हुआ, जब उन्हें पता चला कि कैसे उनकी पत्नी ने भगत सिंह की मदद की है।

बाद के दिनों में भगवती चरण, दुर्गा देवी और वेश बदले हुए भगत सिंह ने कांग्रेस के कलकत्ता सत्र में भाग लिया (जहां उन्होंने गांधी, नेहरू और एससी बोस को देखा) और कई बंगाली क्रान्तिकारियों से मुलाकात की। कलकत्ता में ही टोपी में भगत सिंह की प्रसिद्ध तस्वीर भी ली गई थी।

पर फिर लाहौर में भगवती चरण के बम बनाने वाले कारखाने

पर छापा पड़ गया और उन्हें छिपना पड़ा। इस सबके दौरान उनकी पत्नी दुर्गा ने उनका भरपूर साथ दिया। वे उनके लिए अंडरकवर 'पोस्ट बॉक्स' बन गयीं और क्रान्तिकारियों के पत्र उनके परिवारों तक पहुंचाती रहीं।

यह जानते हुए कि बहुत से नेताओं की गिरफ्तारी से एचएसआरए में एक खालीपन आ गया है, दुर्गा देवी ने खुद क्रान्तिकारी गतिविधियों की शुरुआत की। इनमें से एक पंजाब के पूर्व गवर्नर लॉर्ड हैली और क्रान्तिकारियों के कट्टर दुश्मन की हत्या के साहसी प्रयास शामिल थे।

पर एक बहुत बड़ी त्रासदी दुर्गा देवी के जीवन में घटने वाली थी। भगवती चरण, भगत सिंह को जेल से छुड़ाने की योजना बना रहे थे। इस योजना के तहत उन्हें जेल में बम रखना था, जिसके लिए वे स्वयं बम बना रहे थे। रावी नदी के तट पर बम का परीक्षण होना था। पर परिक्षण करते हुए, अचानक बम फट गया। दुर्भाग्यवश, भगवती चरण इस घटना में शहीद हो गए।

अपने पति की मौत से उबरने के लिए दुर्गा देवी ने अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियाँ और तेज कर दी थीं। जुलाई 1929 में, उन्होंने भगत सिंह की तस्वीर के साथ लाहौर में एक जुलूस का नेतृत्व किया और उनकी रिहाई की मांग की। इसके कुछ हफ्ते बाद, 63 दिनों तक भूख हड़ताल करने वाले जतिंद्रनाथ दास जेल में ही शहीद हो गए। ये दुर्गा देवी ही थीं, जिन्होंने लाहौर में उनका अंतिम संस्कार करवाया।

उसी वर्ष 8 अक्टूबर को उन्होंने दक्षिण बॉम्बे में लैमिंगटन रोड पर खड़े हुए एक ब्रिटिश पुलिस अधिकारी पर हमला किया। यह पहली बार था जब किसी महिला को 'इस तरह से क्रान्तिकारी गतिविधियों में शामिल' पाया गया था। इसके लिए, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और तीन साल की जेल हुई।

भारत की आज़ादी में उनका सिर्फ यही योगदान नहीं था। 1939 में, उन्होंने मद्रास में मारिया मोंटेसरी (इटली के प्रसिद्ध शिक्षक) से प्रशिक्षण प्राप्त किया। एक साल बाद उन्होंने लखनऊ में उत्तर भारत का पहला मोंटेसरी स्कूल खोला। इस स्कूल को उन्होंने पिछड़े वर्ग के पांच छात्रों के साथ शुरू किया था।

आज़ादी के बाद के वर्षों में दुर्गा देवी लखनऊ में गुमनामी की ज़िन्दगी जीती रहीं। 15 अक्टूबर, 1999 को 92 साल की उम्र में वे इस दुनिया को अलविदा कह गयीं। फिल्म 'रंग दे बसंती' में सोहा अली खान द्वारा निभाई गई भूमिका दुर्गा देवी पर ही आधारित थी। अक्सर यही होता आया है हमारा इतिहास महिलाओं के बलिदान और उनकी बहादुरी को अक्सर भूल जाता है। बहुत सी ऐसी नायिकाएं हमेशा छिपी ही रह जाती हैं। दुर्गा देवी वोहरा भी उन्हीं नायिकाओं में से एक हैं!

साभार : [thebetterindia.com](http://thebetterindia.com)

# अक्टूबर क्रांति : मेहनतकशों की मुक्ति की राह दिखाता है

मज़दूर वर्ग की महान अक्टूबर क्रांति (7 नवम्बर) की याद में आज, भारत सहित पूरी दुनिया में मज़दूर वर्ग पर हमले तेज हो गये हैं। पूरी दुनिया का लुटेरा पूँजीपति वर्ग मज़दूरों पर आक्रामक है। मुनाफे के हितों में पगलाया पूँजीपति वर्ग मज़दूरों-मेहनतकशों को रौंद रहा है। तब मज़दूर वर्ग की महान अक्टूबर क्रांति एक मशाल की तरह प्रज्वलित है। यह मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए प्रेरणा स्रोत है। वक्ती पराजय की इस घड़ी में जीत की उम्मीद जगाता है। यह स्थापित करता है कि लूट के इस पूरे तंत्र का खात्मा मज़दूर वर्ग के ही हाथों होगा और अन्तिम जीत मेहनतकश वर्ग की ही होगी।

मज़दूर वर्ग की महान रूस की क्रांति 25 अक्टूबर (नये कैलेण्डर से 7 नवम्बर) 1917 को सम्पन्न हुई थी, जो 'अक्टूबर क्रांति' या 'बोल्शेविक क्रांति' के नाम से भी विख्यात है। जिसका लक्ष्य था : शोषण विहीन समाज की स्थापना। 102 साल बाद यह आज भी पूरी दुनिया के मज़दूर वर्ग की मुक्ति का, नयी क्रांतियों का प्रेरणास्रोत और पथप्रदर्शक बनी हुयी है।

## क्रूर जारशाही के शासन का वह भयावह दौर

क्रांति के पूर्व रूस में क्रूर जारशाही का शासन था, जहाँ के मज़दूर, किसान, छोटे उत्पादक-व्यवसायी, उत्पीड़ित राष्ट्रीयताएं, धार्मिक अल्पसंख्यक सभी दुःखी परेशान थे। शोषण व दमन बहुत तीखा था। जारशाही लगातार युद्धों के जरिये अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करती रहती थी। इन युद्धों में रूस के आम मेहनतकशों को लगातार अपना खून बहाना पड़ता था और युद्धों का पूरा बोझ भी उनको ही उठाना पड़ता था। जार, उसके दरबारी और पूँजीपति इन युद्धों से मालामाल हो जाते थे।

1905 में रूस-जापान युद्ध में रूस जैसी विशाल शक्ति जापान जैसे छोटे मुल्क से हार गयी। गरीबी, दमन और उद्धोन्माद से त्रस्त रूसी मेहनतकश जनता ने 1905-07 में क्रांति का बिगुल फूँका, लेकिन क्रांति असफल रही। फिर भी

मज़दूर वर्ग ने हार नहीं मानी। रूस के मज़दूर वर्ग ने इस क्रांति से महत्वपूर्ण सबक निकाले और महज 10 साल में 1917 की सफल क्रांति को न केवल अंजाम दिया, अपितु यह साबित कर दिया कि मज़दूर वर्ग न केवल शासन चला सकता है, बल्कि मानवीय विकास के नये-नये कीर्तिमान स्थापित कर सकता है।

## असफल क्रांति से सफल क्रांति की ओर

1905-07 की असफल क्रांति का विश्लेषण करके बोल्शेविकों (मज़दूर वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी) ने महत्वपूर्ण सबक निकाले और नयी क्रांति की ओर कदम बढ़ा दिया। इस बीच 1914 में मुनाफाखोरों ने पूरी दुनिया को विश्व युद्ध में झोंक दिया। पूँजीवादी सरकारें 'पितृभूमि की रक्षा' का आह्वान करने लगीं, तब मज़दूरों के शिक्षक व नेता लेनिन ने कहा कि 'युद्ध साम्राज्यवादियों द्वारा बाजार पर कब्जे के लिए है, ऐसे में मेहनतकश जनता को इसके खिलाफ अपनी मुक्ति की लड़ाई छेड़ देनी चाहिए।'

1916 आते-आते विश्व युद्ध की भयानक तबाही दुनिया के अन्य देशों की तरह पूरे रूसी समाज में फैल गयी। मरने वालों से कब्रिस्तान और घायलों से अस्पताल पट गये। बोल्शेविकों की चेतावनी लोगों को याद आने लगी। तमाम दुष्टचारों के बावजूद, रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक)

के नेतृत्व में मजदूर वर्ग, सैनिक, मल्लाह, किसान सभी एकजुट होने लगे। जारशाही का पतन शुरू होने लगा।

मजदूर वर्ग के साथ सभी उत्पीड़ित जन जारशाही के खिलाफ लामबन्द हो रहे थे। वक्त की नजाकत देखकर पूँजीपति वर्ग भी पाला बदलकर क्रांतिकारी जमात में शामिल हो गया। ब्रिटिश, फ्रांसीसी, अमेरिकी साम्राज्यवादी अपने हितों के लिए साथ लग लिए। फरवरी 1917 में एक सफल पूँजीवादी जनवादी क्रांति के जरिये जारशाही का अन्त हो गया।

### फरवरी क्रांति से अक्टूबर क्रांति की ओर

फरवरी क्रांति के बाद पूँजीपति वर्ग जार की नीतियों के साथ था और विश्व युद्ध में बना रहना चाहता था। इसके उलट बोल्शेविकों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग इस लुटेरी युद्ध की जगह रूस में शान्ति की चाहत के साथ समाजवाद कायम करना चाहता था।

एक तरफ पुराने ढांचे वाली पूँजीपतियों की अस्थायी सरकार थी तो दूसरी तरफ मेहनतकशों की सोवियतें (भारत के पुराने पंचायतों जैसी संस्था)। इस दोहरी व्यवस्था को आधार बनाकर बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मजदूर वर्ग ने 'सारी सत्ता मेहनतकश को' का नारा बुलन्द कर नयी क्रांति का बिगुल फूंक दिया।

अन्ततः 25 अक्टूबर 1917 (7 नवम्बर) को रूस में मजदूर वर्ग ने शानदार क्रांति को अंजाम दिया। पूँजीपति वर्ग की आठ माह पुरानी सत्ता का अन्त हो गया। बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मजदूर वर्ग की सत्ता कायम हो गयी। पूँजीपति वर्ग के सशस्त्र प्रतिरोध को मजदूर वर्ग के हथियारबंद दस्तों ने ध्वस्त कर दिया। देश के सभी प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों, संचार व रेल साधनों, सरकारी इमारतों आदि को मजदूर वर्ग ने अपने कब्जे में ले लिया। पूँजीपति वर्ग और जमींदारों के प्रतिरोध को कुचलते हुए पूरे देश में सोवियतें कायम होती जा रही थीं। क्रांति कामयाब हो गयी थी'।

'अक्टूबर क्रांति' को कुचलने के लिए साम्राज्यवादी देशों के नेतृत्व में 14 देशों ने सोवियत रूस पर चारों तरफ से हमला बोल दिया। लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस के मजदूरों, किसानों ने पूँजीपतियों, जमींदारों और विदेशी शत्रुओं का चार साल तक जम कर सामना कर उन्हें परास्त किया।

### नायाब प्रयोगों ने कायम कीं कई मिशालें

समाजवादी निर्माण के पूरे दौर में सोवियत संघ के मेहनतकशों ने एक के बाद एक कीर्तिमान स्थापित किये। उसने

सामूहिक उत्पादन की प्रणाली विकसित की। अनियंत्रित उत्पादन के बाजारू तरीके को बदलकर जनता की जरूरतों के अनुरूप उत्पादन का तंत्र बनाकर यह साबित कर दिया कि मेहनतकश की खुशहाली कैसे आ सकती है। शिक्षा, दवा-इलाज जैसी आम जनता की बुनियादी जरूरतें सबके लिए निशुल्क उपलब्ध कराने से लेकर हर हाथ को काम देने का सपना साकार किया।

1929-31 के दौर में जब पूरी दुनिया आर्थिक महामंदी के दौर से गुजर रही थी, एक-के-बाद-एक कल-कारखाने बन्द हो रहे थे, बेरोजगारी और महँगाई चरम पर थी, तब सोवियत रूस में उत्पादन में आठ से दस गुने की वृद्धि हो रही थी। मुनाफे और बाजार के लिए जब साम्राज्यवादियों ने दुनिया को दूसरे विश्वयुद्ध में झोंक दिया था और इटली व जर्मनी का फासीवाद पूरी मानवता को रौंद रहा था, तब समाजवादी रूस की मेहनतकश जनता ने मानवता की रक्षा की और वैश्विक तबाही से बाहर निकाला, फासीवाद का नाश किया।

क्रांति के बाद बने सोवियत संघ ने पूरी दुनिया के मजदूरों, किसानों, उत्पीड़ितों, गुलाम देशों को मुक्ति की राह दिखायी। सोवियत संघ जब तक समाजवादी रहा तब तक वह मुक्ति का न केवल मजदूर वर्ग का प्रेरणास्रोत रहा बल्कि उसने दुनिया भर के शोषितों-उत्पीड़ितों की मदद भी की। दूसरे विश्व युद्ध के बाद दुनिया के चौथाई हिस्से पर मजदूर वर्ग का शासन था। चीन सहित तेरह देशों में समाजवादी राज्यों की स्थापना हुयी। 1956 में सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद समाजवाद और कम्युनिज्म के महान ध्येय को वक्ती तौर पर हानि पहुँची।

### सबक लेकर आगे बढ़ना होगा

आज, जब पूरी दुनिया में मजदूर वर्ग की कहीं कोई सत्ता नहीं है और पूरी दुनिया का मजदूर वर्ग नयी क्रांतियों की तैयारी में जुट रहा है, तब अक्टूबर क्रांति एक मशाल की तरह प्रज्वलित है। पूँजीपतिवर्ग ने अपने हित में इससे सबक निकाले हैं। हमें भी मजदूरवर्ग की नयी क्रांति के लिए अतीत की महान क्रांतियों से सीखने, विश्लेषण करके सबक निकालने और आज की ठोस परिस्थितियों के अनुरूप क्रांति की नयी रणनीति बनाने की जरूरत है। अक्टूबर क्रांति को याद करने का यही मकसद हो सकता है।

साभार : mehnatkash.in

# किन वजहों से जेलों में बंद रहने को मजबूर हैं आदिवासी और हाशिये से आने वाले लोग

जसिंता केरकेट्टा

बीते दिनों राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू ने छोटे-मोटे अपराधों में जेल की सजा काट रहे आदिवासियों की दुर्दशा का जिक्र किया था, जिसके बाद शीर्ष अदालत ने इस बात का संज्ञान लिया था। झारखंड की जेलों में भी कई ऐसे विचाराधीन कैदी हैं, जिन्हें यह जानकारी तक नहीं है कि उन्हें किस अपराध में गिरफ्तार किया गया था।

बीते महीने संविधान दिवस के मौके पर राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू ने मामूली अपराधों में वर्षों से कैद आरोपियों द्वारा जमानत की शर्तें पूरी न कर पाने वालों को जेल से रिहाई की चर्चा की थी। इसके बाद सुप्रीम कोर्ट ने मामूली अपराधों में जेल में बंद ऐसे आरोपियों की जानकारी मांगी थी, जो जमानत की शर्तें पूरी न कर पाने की वजह से जेलों में बंद हैं।

झारखंड के जेलों की पड़ताल करने पर पता चलता है कि यहां 90 प्रतिशत बंदी निरक्षर हैं या बारहवीं तक ही पढ़े-लिखे हैं। गांव के बहुत सारे लोग पढ़े-लिखे नहीं होने के कारण यह भी नहीं जानते कि उन्हें किस आरोप में और क्यों पकड़ा गया है। पति या बेटे के जेल चले जाने के बाद गांव में रहने वाली उनकी मां, पत्नी या कोई अन्य यह भी नहीं जानते कि आगे क्या करना है। ऐसी स्थिति में लोग लंबे समय तक जेल में पड़े रहते हैं।

ऐसी ही आपबीती खूंटी जिले के अड़की थाना क्षेत्र में रहने वाले जोसेफ कांगाड़ी की थी। उन्होंने बताया, 'जेल से बाहर आने के बाद मुझे पता चला कि कोर्ट ने बहुत पहले ही जमानत का आदेश दे दिया था, लेकिन आदेश के बाद भी मैं छह माह तक जेल में पड़ा रहा। मेरी पत्नी नहीं जानती थी कि कोर्ट से बेल का आदेश मिलने के बाद आगे

क्या करना होता है। बाद में जब जज के सामने उसे लाया गया, तब जज ने मेरा नाम पूछा तो वह डर से मेरा नाम ही भूल गई। वह मुंडारी भाषा जानती है। हिंदी भी ठीक से समझती नहीं। छह माह के बाद मैं अभी गांव वापस लौटा हूँ।'

परिजनों की हिरासत में लिए गए व्यक्ति के मामले में अंबीगीता का यह इकलौता मामला नहीं है। खूंटी थाना क्षेत्र में ही रहने वाले जोगिंदर गोंझू नाबालिग हैं और फिलहाल डुंबरदगा जेल, ओरमांझी में बंद हैं।

उनकी मां बिमला देवी बताती हैं, 'एक दिन पुलिस आई। सफेद कागज में अपना नाम लिखने को कहा। हमने लिख दिया। पुलिस ने बेटे को उठा लिया और कहा कि पूछताछ करने के लिए ले जा रहे हैं। लड़के को कई बार कहा कि जब कोर्ट में पूछा जाए कि कब उठाया है तो कहना आज ही। पर पुलिस लड़के को रात को ही ले गई थी। लड़के ने कोर्ट में ऐसा ही कहा और अब वह जेल में है। हमें नहीं मालूम कि क्या मामला था और बेटे को क्यों जेल में रखा है।'

इसी जिले के मरांगहदा थाना क्षेत्र के रहने वाले मदरू मुंडा के परिजन बताते हैं, 'किसी की हत्या की खबर सुनकर मदरू भी देखने चला गया। बाद में खबर मिली कि पुलिस उसे ही पूछताछ के लिए पकड़कर ले गई है। घर के लोग मिलने गए, पर उससे मिलने नहीं दिया गया। पांच दिन तक उसे थाना में रखा गया, फिर पता चला कि उसे जेल भेज दिया गया है।'

इसी तरह खूंटी जिले के ही तोरपा थाना क्षेत्र में रहने

वाला अजय टोपनो ने बताया, 'किसी अनजान व्यक्ति ने मेरा मोबाइल जरूरी बात करनी है कहकर मांगा था, मैंने दे दिया था। बाद में रात को पुलिस आई और मुझे पकड़कर थाना ले गई। वहां उन्होंने मुझे बहुत मारा। मुझे नहीं मालूम था कि क्या हुआ है।' वह जेल से अभी गांव लौटे हैं।

झारखंड के जेलों में बंद कैदियों की स्थिति जानने के लिए खूंटी स्थित हॉफमैन लीगल सेल के संचालक और मानवाधिकार कार्यकर्ता फादर अनूपचंद मिंज ने आरटीआई के जरिये राज्य के विभिन्न जेलों से सूचनाएं हासिल की हैं।

वे बताते हैं, 'खूंटी जिले में पुलिस द्वारा दर्ज प्राथमिकी के अधिकतर मामलों में स्वतंत्र गवाह नहीं होते। इसका मुख्य कारण पुलिस वालों को देखकर गांव वालों का भाग जाना अथवा किसी स्वतंत्र गवाह का मौजूद न होना है। ऐसे में पुलिस वाले अपने द्वारा दर्ज एफआईआर में खुद ही साक्ष्य भी बन जाते हैं।'

### 90 प्रतिशत कैदी निरक्षर से 12वीं तक ही पढ़े

उन्होंने बताया कि 90 प्रतिशत से अधिक कैदी निरक्षर हैं अथवा उन्होंने अधिकतम 12वीं तक की पढ़ाई की है। यह भी तथ्य है कि राज्य के जेलों में लगभग इतने ही प्रतिशत बंदी दूरदराज के गांव, बस्तियों के हैं।

फादर अनूपचंद कहते हैं, 'ये आंकड़े कई प्रश्न पैदा करते हैं। ऐसा लगता है कि जुर्म केवल आर्थिक दृष्टि से गरीब, अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोग ही करते हैं। लेकिन जेल में गांव-देहात के लोगों की संख्या अधिक होने का मूल कारण पुलिस और कचहरी से उनका डरना है। कई बार पुलिस बेकसूर लोगों को झूठे केस में फंसा देती है और उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेज देती है।'

उन्होंने जोड़ा, 'गांव-देहात के लोगों की सरल जीवनशैली के कारण भी पुलिस गांव-देहात में किसी भी तरह का जुर्म करने वालों को आसानी से गिरफ्तार कर लेती है, जबकि पढ़े-लिखे और शहर वाले अपराध कर महीनों या सालों तक भूमिगत हो जाते हैं और आसानी से पुलिस की गिरफ्त में नहीं आते।'

बंदियों की पढ़ाई-लिखाई के दृष्टिकोण से घाघीडीह, जमशेदपुर जेल अक्वल है। 31 दिसंबर 2021 के आंकड़े के अनुसार, इस कारागार में कुल 1,893 बंदियों में 91 निरक्षर, कक्षा 1-10 तक पढ़े 800, बारहवीं तक की पढ़ाई करने वाले 734, स्नातक करने वाले 110, स्नातकोत्तर की पढ़ाई करने वाले 51 और टेक्निकल ट्रेनिंग किए हुए 107 बंदी थे।

### जेलों में क्षमता से अधिक कैदी

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्य में अवस्थित केंद्रीय जेलों को छोड़कर हर जिला के कारागार या उप-कारागार में कैदियों की संख्या जेलों की क्षमता से कई गुना अधिक है। जिला कारा अथवा उप कारा में बंदियों की संख्या 50 प्रतिशत से अधिक होना आम बात है। किसी-किसी जेल में उनकी संख्या दोगुनी अथवा तिगुनी भी है।

उदाहरण के लिए, देवघर केंद्रीय कारा की क्षमता सिर्फ 335 लोगों की है, लेकिन इसमें 900 से भी ज्यादा लोगों को रखा गया। यह बात भी सामने आई है कि कन्विकशन रेट या बंदियों को कोर्ट से सजा मिलने की दर अत्यंत कम है। औसतन यह महज दो से तीन प्रतिशत ही है।

आंकड़ों के विश्लेषण से यह भी दिखता है कि एक साल में जितने लोगों को गिरफ्तार कर जेल में डाला गया, लगभग उतने ही लोगों को कार्टकोर्ट से जमानत भी मिली। इसका अभिप्राय यह है कि या तो उनके मामले गिरफ्तारी के लायक नहीं थे, वे ज्यादा गंभीर मुद्दे नहीं हैं अथवा उनको बिना अपराध के महज फंसाया गया था।

### पाकुड़ जेल में आदिवासी बंदियों की सबसे ज्यादा संख्या

प्रतिशत के हिसाब से अनुसूचित जनजाति बंदियों की सबसे ज्यादा संख्या पाकुड़ जेल में है, जहां लगभग सौ फीसदी बंदी आदिवासी हैं। इसके बाद देवघर सेंट्रल जेल में 86 प्रतिशत और खूंटी जेल में 77 प्रतिशत है। अनुसूचित जाति के बंदियों की संख्या सबसे ज्यादा बोकारो जेल में है, जो 69 प्रतिशत है। दूसरे नंबर पर चाईबासा जेल (38 प्रतिशत) और तीसरे नंबर पर तेनुघाट जेल (27 प्रतिशत) है।

धर्मिक समुदाय की दृष्टिकोण से झारखंड के जेलों में लगभग 74 प्रतिशत बंदी हिंदू समुदाय के हैं, वहीं 16 प्रतिशत मुसलमान, सात प्रतिशत ईसाई, एक प्रतिशत सिख और तीन प्रतिशत अन्य समुदाय के हैं।

हत्या के मामले में गिरफ्तार लोगों की सबसे अधिक संख्या चाईबासा जेल में (54।73 प्रतिशत) है। इसके बाद दुमका सेंट्रल जेल में (53।41 प्रतिशत)। हजारीबाग सेंट्रल जेल तीसरे नंबर पर आता है, जहां इनकी संख्या 45।65 प्रतिशत है।

ऐसे समय में जब देश की राष्ट्रपति ने जेलों में विचाराधीन कैदियों के बारे में चिंता जताई है, झारखंड के जेलों में लंबे समय से मामूली अपराधों में वर्षों से कैद विचाराधीन कैदियों की ओर भी ध्यान देने की जरूरत है।

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)

# अमृत महोत्सव के तमाशाई माहौल में सार्थक हस्तक्षेप की तरह द लास्ट हीरोज़ : फुट सोल्जर्स ऑफ इंडियन फ्रीडम

पी. साईनाथ की नई किताब 'द लास्ट हीरोज़ : फुट सोल्जर्स ऑफ इंडियन फ्रीडम' पढ़कर एहसास होता है कि हम अपने स्वतंत्रता संग्राम में साधारण लोगों की हिस्सेदारी के बारे में कितना कम जानते हैं। यह वृत्तांत हमें भारतीय साधारण की आभा से भी दीप्त करता है।

हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जहां हमें हर रोज़ कोई न कोई डराता रहता है। सत्तारूढ़ शक्तियों का तो जैसे बिना डराए काम ही नहीं चलता। फिर अखबार, टीवी चैनल, धर्मनेता, बाज़ार, गुंडे-लफंगे आदि लगातार ऐसा कुछ न कुछ, लगभग नियमित रूप से, करते या कहते रहते हैं कि डर लगने लगता है। आस-पास के लोग, पड़ोसी और अजनबी सभी डर की चपेट में लगते हैं। ऐसे भयभ्रस्त वातावरण में अभय के लिए की गई एक वैदिक प्रार्थना हाथ लग गई जो अथर्ववेद से है। प्रार्थना मेरा एक प्रिय शब्द और भाव है, हालांकि आस्था के वरदान से वंचित रहने के कारण, मुझे कभी यह समझ में नहीं आया कि किससे प्रार्थना करूं! अपनी एक कविता का समापन मैंने इन शब्दों से किया है : 'करो प्रार्थना/कि टुच्चे लोगों से भले न बच सको/अपने टुच्चेपन से बचे रहो/और जीवन की तरह/मृत्यु में भी कुछ गरिमा हो/करो प्रार्थना...'

हिन्दी अनुवाद में वैदिक प्रार्थना इस तरह है :

अभय करो प्रभु, अभय करो हमें / भूमि से न भय हो, आकाश से न भय हो; / मित्र से न भय हो, शत्रु से न भय हो; / भय हो न सामने से, पीछे से न भय हो; / दाएं न भय हो, न बाएं से ही भय हो; / दिन में न भय हो, न रात में भी भय हो; / शत्रु मेरा कोई न हो, सब ही दिशाएं मेरी / मित्र बनें और मेरी मित्रता की जय हो।

ऐसा अभय मिल सके, ऐसी स्वस्ति और आश्वस्ति हमारे हिस्से आ जाए ऐसी संभावना कम ही है। इसके लिए दोष और दायित्व हमारा ही है। हम ही तो हैं जो शत्रुता बढ़ाते रहते हैं और फिर उसी से भयानक होते हैं। हम ही तो हैं जो पृथ्वी को लगातार क्षत-विक्षत-नष्ट कर रहे हैं और आकाश को हर पल दूषित। हम ही हैं जो दाएं-बाएं का खेल खेलते रहते हैं। हम स्वयं डरते-डराते हैं और दिन और रात दोनों में डर का चालीसा पढ़ते-गाते रहते हैं। सारी दिशाएं हमें अविश्वास से देखती हैं। अभय आकाश से नहीं गिरेगा : वह इसी पृथ्वी पर हमारे लिए आएगा। कई बार यह कुछ तीखेपन से पूछने का मन होता है : हम खुद अपने से डरना, अपनों को डराना कब छोड़ेंगे ?

**अंतिम नायक**—हम ऐसे समय में रह रहे हैं जहां हम यह लगभग भूल चुके हैं कि अक्सर साधारण लोग भी नायक हो सकते हैं, हुए हैं : साधारण की जिजीविषा, संघर्ष, गरिमा, कुछ असाधारण करने की क्षमता और अदम्यता हमारे ध्यान के भूगोल से बाहर हो गई है। अब हमारे नायक बड़े धनिक-व्यापारी, अपराधी, फिल्म अभिनेता, वाक्शूर पर कर्महीन राजनेता होने लगे हैं। वे सब जो तरह-तरह से सत्ता हथियाते या उसके इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं।

पी. साईनाथ एक ऐसे पत्रकार हैं जिन्होंने हमारे समय में साधारण किसानों की दुखी आत्महंता जीवन, गरीबों के संघर्ष और दुर्भिक्ष की गाथा विस्तार और प्रामाणिकता के साथ लिखी है। इसी क्रम में उनकी नई पुस्तक आई है 'द लास्ट हीरोज़ : फुट सोल्जर्स ऑफ इंडियन फ्रीडम', जो पेंगुइन ने प्रकाशित की है। आज़ादी के अमृत महोत्सव के अंतर्गत जो तमाशाई माहौल है उसमें यह पुस्तक एक बहुत सार्थक हस्तक्षेप की तरह है क्योंकि वह उन कुछ स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों की कथा कहती है जो इस संग्राम के आधिकारिक वृत्तांत में कभी शामिल नहीं किए गए पर जिन्होंने नामहीनता में रहकर भी इस संग्राम में हिस्सा लिया था। उनमें आदिवासी, दलित, पिछड़ी जातिवाले, ब्राह्मण, मुसलमान, सिख और हिंदू शामिल हैं। वे देश के विभिन्न अंचलों से आते हैं और अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं और उनमें आस्थावान और नास्तिक, वामपंथी, गांधीवादी और आंबेडकर के अनुयायी शामिल हैं। उनमें से किसी का भी कोई सत्तापरक जीवन नहीं रहा, न उन्हें कोई पद या सम्मान मिले। पर वे सभी ब्रिटिश राज्य के विरोध में रहे। कुछ नाम हैं : शोभाराम गहरवार, भगत सिंह झुगियां, एन. शंकरैया, बाजी मोहम्मद, गणपति यादव, भवानी महतो, लक्ष्मी पंडा, एचएस दौरेस्वामी, थैलू और लोकखी महतो, एन. नल्लूकण्णु, मल्लू स्वराज्यम, देमती देई सबर।

इन सबकी गाथा पुस्तक में कही गई है : उसमें उपन्यास जैसा स्वाद मिलता है। यह भी एहसास होता है कि हम अपने स्वतंत्रता संग्राम में साधारण लोगों की हिस्सेदारी के बारे में कितना कम जानते हैं। यह वृत्तांत हमें भारतीय साधारण की आभा से दीप्त करता है।

महाराष्ट्र के सांगली से स्वतंत्रता सैनिक और तूफान सेना के 'कैप्टेन भाऊ' रामचंद्र श्रीपति लाड कहते हैं : 'हम दो चीजों के लिए लड़े- स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए। हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।' जाहिर है कि मुक्ति का संग्राम अभी भी चल रहा है।

इस पुस्तक को पढ़ने से यह एहसास भी गहरा होता है कि हम साधारण लोगों की मुक्ति की आकांक्षा और उसके लिए अब भी संघर्ष करने की जिम्मेदारी निभाने की इच्छा और कर्मठता को शायद ठीक से नहीं समझ पा रहे हैं। इस समय लगातार फैल रहे अधिनायकतावाद से यही साधारण लोग मुक्ति दिला सकते हैं। हमारी उम्मीद का केंद्र वे ही हैं। इस संदर्भ में यह पुस्तक उम्मीद दिलाती पुस्तक भी है।

## इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए